ऐसी थी
सुधा
मृत्युंजय उपाध्याय

'ऐसी थी सुधा' मृत्युंजय उपाध्याय का पहला कहानी-संग्रह है। इसमें मानव-मन की गहरी वेदना को वाणी दी गई है। प्रेम की तीव्र अनुभूतियों को इन कहानियों में प्रायः भावुकता से बचा कर इस रूप में व्यक्त किया गया है कि वे आधुनिक भाव-बोध की कहानियाँ लगने लगती हैं।

प्रेम को आत्मिक अभिव्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना बड़ा जटिल है, लेकिन मृत्युंजय उपाध्याय की इन कहानियों में प्रेम की तीव्र प्रतीति उस सामाजिक यथार्थ को भी वाणी दे सकी है जिसे यथार्थवादी रचनाओं में पाया जाता है।

'ऐसी थी सुधा' की कहानियाँ सृजनशीलता के उस स्तर से सम्बद्ध हैं जिसमें अनुभूति और बौद्धिकता एक-दूसरे में घुल जाती हैं। यह कहानियाँ निश्चय ही समकालीन पाठक को उत्तेजित और आंदोलित करेंगी। जो लोग आधुनिक कहानीकारों के संकलनों में रूचि रखते हैं उनके लिए यह संकलन अनिवार्य है।
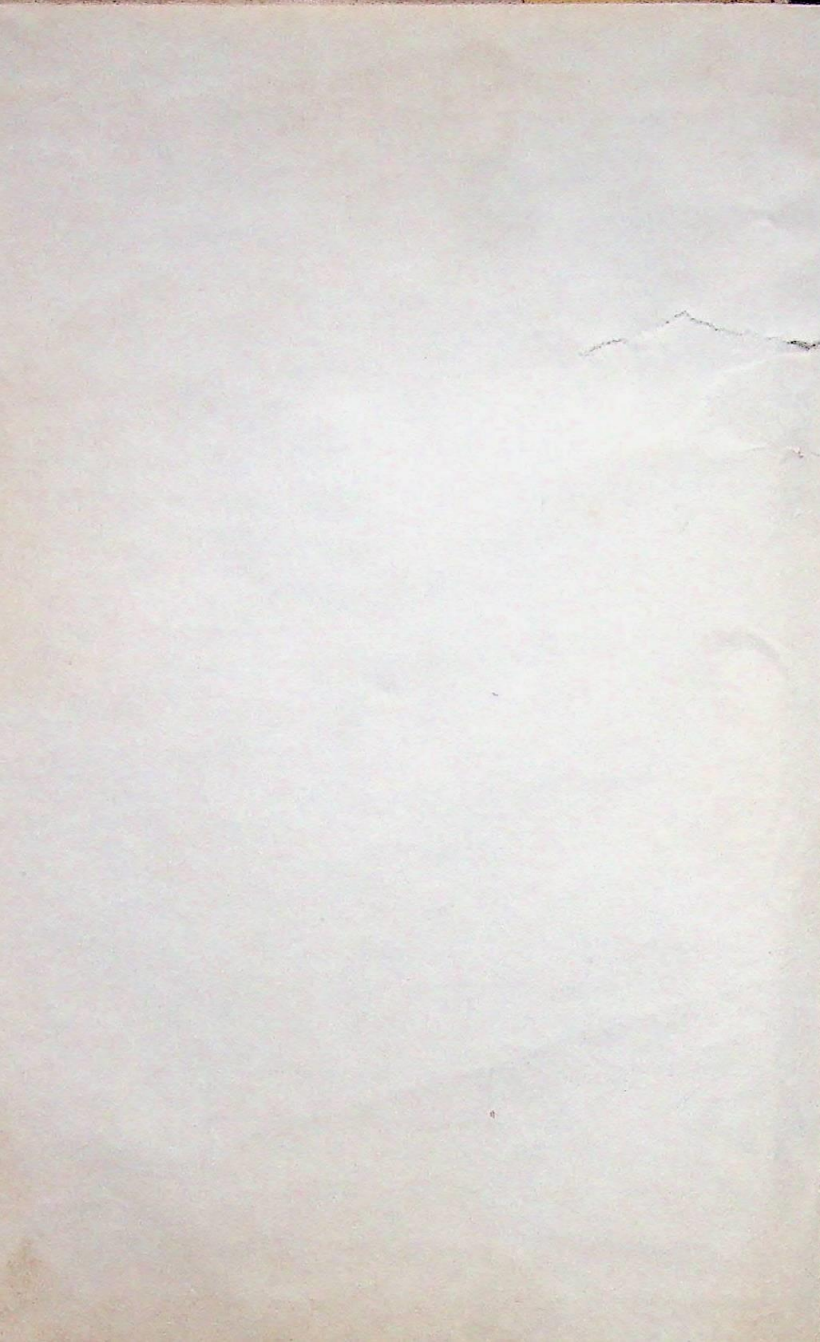
ऐसी थी सुधा

(कहानी-संग्रह)

ऐसी थी सुधा

मृत्युंजय उपाध्याय

चित्रलेखा प्रकाशन
१७०, अलोपी बाग, इलाहाबाद—६

स्व० पिता श्री वृन्दावन उपाध्याय जी की
पुण्य स्मृति में
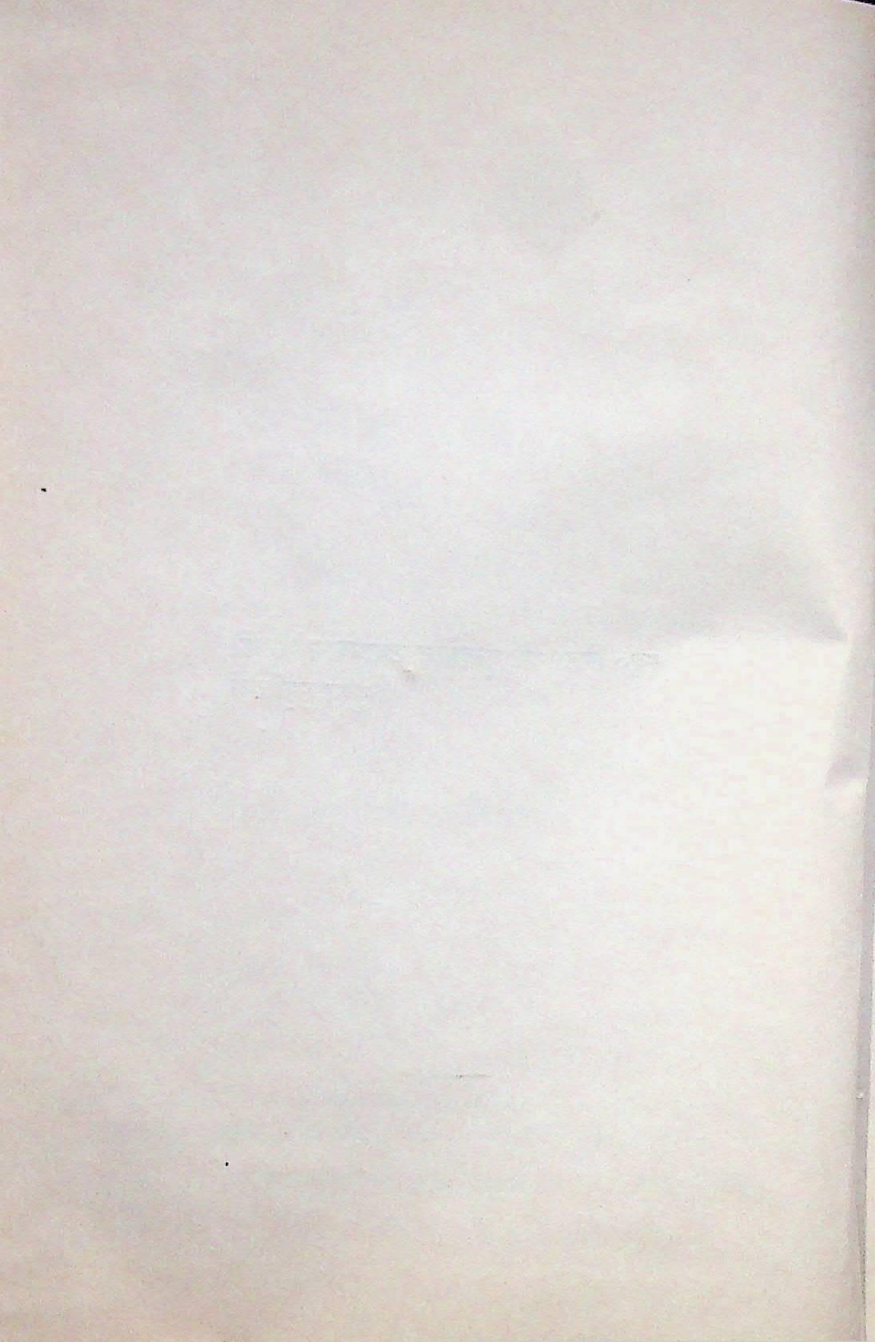
क्रम

ऐसी थी सुधा

एक ओर पहाड़ियों का दूर-दूर तक सिलसिला। एक पहाड़ी खत्म न हुई कि दूसरी शुरू हो गई। उस पर कहीं खजूर पेड़ों की छाया और कहीं छोटे मंदिर, जहाँ इक्का-दुक्का भक्तों का आना-जाना। उन पहाड़ियों को देखकर प्रकृति की अबूझ पहेली सुलझाने लगता हूँ। नगाधिराज की बरबस याद आने लगती है, जो अविचल स्थिर होकर पता नहीं युग-युग से क्या संदेश देता रहा है। पहाड़ियों की दूसरी ओर सपाट मैदान। मैदान के बाद धान के खेतों का दूर-दूर फैला प्रांतर। धान की फसल कट गई है। सब खेतों में रबी बोई नहीं गई है। लगता है उजड़ा दयार का मनहूस आलम फैलने लगा है। किसी सुहागिन का सुहाग लुट गया है। लुटने के चिह्न साफ-साफ दिखाई दे रहे हैं। कुछ खेतों में फिर रबी की फसल लहलहाने लगी है। हरियाली आँखों को सुख पहुँचा रही है। पशु उसे उजाड़ने को कटिबद्ध और मालिक उसे बचाने को प्रतिबद्ध। रक्षक-भक्षक का संघर्ष सनातन है क्या ?

खेतों और पहाड़ियों के बीच वृक्षों का अंबार। साथ ही नये वृक्षों के लगाने का सिलसिला। शाल, शीशम, नीम, आम आदि के छः-छः इंच के पौधों को देखकर मेरा मन आशंका से भर उठता है। क्या ये ही वृक्ष सीना ताने कल आसमान को ललकारेंगे, पंछी को शीतल छाँह देंगे ? लगता है नन्हा वृक्ष मुस्कराने लगा है—'जरा मुझे पलकर अपने बराबर ऊँचा तो होने दीजिए, फिर देखिएगा आपकी शंका कहाँ उड़ जाती है।' मैं उसके जीवट पर मुग्ध हो जाता हूँ। जन्म लेने के साथ बच्चे भी कितने अवश होते हैं, चुटकी से गले दबा दिये जाएँ, तो सारा खेल समाप्त। बच्चों को पालने से भी कठिन काम है वृक्षों का पालना। आदमी बड़ा होकर भले ही स्वार्थी हो जाए, पर वृक्ष शरीर ही धारण करता है परहित के लिए। नन्हें वृक्षों को विशाल वृक्षों के रूप में कल्पना की आँखों से देखता हूँ और मन अजीब हर्ष पुलक से भर जाता है।

सपाट मैदानों के बीच एक घेरादार आँगन। आँगन के चारों ओर बड़े-बड़े दरख्त। अभी जवान मालूम पड़ते हैं। कद्दावर हो गए हैं। पर वयस्क नहीं हो पाए हैं। आँगन के एक कोने में बना सुन्दर-सा घर, मानो कण्व का आश्रम हो। छायादार पेड़ों के तले। उसमें पल रही है शकुन्तला की तरह ही सुधा। मैं 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के कण्व आश्रम के पवित्र और मनोरम वातावरण में कुछ काल के लिए खो जाता हूँ। लगता है वक्त थम गया है। अतीत वर्तमान में आकर ठिरस गया है। कण्व की ही तरह उसी स्नेह-वात्सल्य और सहृदयता से भरा है एक पुरुष। मैं उसकी उदारता और परमदुःख-कातरता का अनेक बार साक्षी रहा हूँ। दूसरे प्रांत से आया व्यक्ति बिहार को ही अपना जन्मस्थान मान उसकी मिट्टी से कितने गहरे रूप से जुड़ा है। दिन-रात लगा है वहाँ के वासियों का संस्कार माँजने, उसे देवता बनाने।

मैं उसके चरणों पर झुकता हूँ। वह आशीर्वाद का हाथ मेरी पीठ पर फेरता है। मैं हर्ष-विह्वल हो जाता हूँ। ऐसी ही घड़ियों का इंतजार मैं साल भर करता रहता हूँ। इसी बीच सुधा आ जाती है। मैं उसकी ओर

टकटकी बांधे देखने लगता हूं। यौवन हिलोरें मार रहा है उसमें—अरूप रूप पाया है उसने। लगता है वह विधाता की अन्यतम कृति है। भूरा वस्त्र, उस पर एक आकार के, एक ही तरह के बेलबूटे। किसी कुशल कलाकार का ही करिश्मा हो सकता है। कितना फबता है उस पर! मैं देखता ही रह जाता हूं। मेरी आंखें सुधा में चिपक गई हैं और मन कह रहा है—'छि:-छि:, किसी अनजान युवती को यों घूरना कितना शर्मनाक है।' मैं जबर्दस्ती सुधा के अंग-प्रत्यंग पर अपनी फिसलती नजरों को समेटना चाहता हूं, तब तक उस महापुरुष की आवाज आती है—'तुम इससे मिले नहीं, यह है मेरी इकलौती बेटी सुधा।' मैं उसे कुछ कहूं, तब तक वह मेरी ओर मुखातिब हो जाती है, नजरें उठाकर मेरी ओर देखने लगती है। बड़ी साफ हैं उसकी आंखें—बच्चों-सी साफ आंखें, छल-कपट से दूर आंखें। वे आंखें बहुत कुछ कहती हैं। तो क्या वे निष्पाप आंखें विवशता के कारण हैं? क्या सुधा के पांव कुठौर में जाना चाहते हैं? क्या पिता का कठोर अनुशासन उसे खलता है? नहीं, हरगिज नहीं—मेरा मन ऐसा नहीं कह सकता। असीम वात्सल्य है उसके पिता में।

मैं उसे देखकर भूल ही जाता हूं कि वह युवती है और अपने पिता के पास खड़ी है। पता नहीं वह कौन-सी अज्ञात प्रेरणा है, जो मुझे उसका मुंह छूने, सहलाने के लिए बाध्य करने लगती है।

वही मेरा ध्यान बंटाता है—'पसंद आई सुधा! तुम्हारे ही ऐसा लड़का मैं इसके लिए दो वर्षों से ढूंढ़ रहा हूं। ठीक तुम्हारे समान, एक पत्नीव्रती, पत्नी के प्रति पूर्ण समर्पित। पर मिलता कहां है?' यह सुनकर मेरा विवाहित होना मेरे लिए अभिशाप लगने लगता है। मेरा यायावर मन, विविधता का चाहक मन कुछ सोचकर गंभीर हो जाता है। प्रत्यक्ष रूप में इस भाव को दबाने की कोशिश करता है।

मैं अपने पत्नीव्रत को टटोलकर देखने लगता हूं। कुछ-कुछ निराश और हताशा से उसकी ओर देखता हूं। उसकी अनुभवी आंखें सब समझ जाती हैं और वह उत्साहित करने वाली मुद्रा में कहता है—'बिना ऊंचा आदर्श

सामने रहे, जीवन के प्रति एक दृष्टि विकसित किये जीना बेकार है। मैं तुम्हारी समस्त संभावनाओं को उजागर करने की चेष्टा कर रहा हूं। सच पूछो, तो मैं ऐसा ही लड़का ढूंढ़ता हूं सुधा के लिए।'

मैं सोचने लगता हूं, कहीं उसने सुधा के प्रति मेरे लगाव को देखकर तो ऐसा नहीं कहा। राम ! राम ! वर्षों से अर्जित आस्था खंड-खंड हो जाएगी। मेरे राम का व्यक्तित्व चिंदी-चिंदी होकर हवा में बिखर जाएगा। पर यह सब सोचने से क्या होगा ? कुछ है, जो जबरन मुझे सुधा की ओर घसीट रहा है और मैं चाहकर भी कुछ नहीं कर पाता, बल्कि उसकी ओर ही बढ़ता जा रहा हूं। उसका आदेश होता है—

'सुधा को तुम दिन भर देखोगे, जरा सुधा के आँगन के पेड़ों का तो जायजा ले लो। कितनी रमणीक जगह रहती है सुधा, मेरी आँखों की तारा सुधा।' इतना कहकर वह गंभीर हो जाता है। फिर भावविह्वल आंखों में आंसू छलछला आते हैं। मैं समझ नहीं पाता कि कोई पिता अपनी पुत्री के लिए इतना विह्वल क्यों हो जाता है।

मैं एक आज्ञाकारी बालक की तरह उसके साथ हो जाता हूँ। वह कहने लगता है—'यह देखो आम का पेड़। इसका पौधा मैं बड़ौदा से लाया था। वहां मेरे मेजबान कहते थे—'वहां तक नहीं जा पाएगा यह पौधा।' पर आ ही गया। इसका आम शहद के समान मीठा होता है। तुम दो खाओगे, तृप्त हो जाओगे....। यह देखो बिल्व वृक्ष। अभी इसकी मसें भीगी ही हैं। पर फल कितना मीठा देता है। मैं ठहरा शंकर का चपरासी.... इसके पत्तों से उनकी पूजा करता नहीं अघाता। इसके फल के कारण ही मैं सभी उदर रोगों से मुक्त रहता हूं।'

उसका कथन जारी है। वह आगे-आगे और मैं पीछे-पीछे। मेरे समानांतर चल रही है सुधा और रह-रहकर झुकी नजरें उठाकर उन्हीं से छूना चाहती हैं। संभव है चुम्बन लेना चाहती है। उससे मैं डरता हूं। उस (महापुरुष) की नजर में गिरना नहीं चाहता। सुधा के पूरे शरीर पर मैं हाथ फेरता जा रहा हूं। मेरी गति के साथ वह ठीक-ठीक तालमेल बैठा

रही है। मैं उसकी गति का अनुगमन कर रहा हूं। एक बार वह रुकता है और मेरी ओर तृप्ति की नजरों से ताकता है। मुझे उसका बदन सहलाते और मुंह छूते देखकर क्रोधित नहीं होता, वरन् संतोष का अनुभव करता है। वह कहने लगता है—'सुधा तुमसे कितनी पट गई है। कहीं यही तो तुम्हारी पूर्वजन्म की पत्नी नहीं है! तुम नहीं जानते होगे। इस बेल वृक्ष ने इसकी काया को कितना निखारा है। रोज इसे खाना मिले, नहीं मिले, परवाह नहीं, पर इस गाछ की दो-चार कोमल पत्तियां यह रोज खाती है। नहीं मिलेंगी, रूठ जाएगी। उस समय आकर मेरे सीने में सट जाएगी, मुंह मेरे हाथ में रगड़ने लगेगी। मेरे पास आते ही वह सुकून महसूसने लगती है। मैं तुरन्त उसकी इच्छा पूरी करता हूं। जीवन में इसका है ही कौन मेरे सिवा।'

तब तक सुधा मुझसे सटकर ही खड़ी रही। मैं मंत्रचालित पुतले-सा उसकी पीठ पर हाथ फेरता रहा। ऐसा लगता था कि मेरी चिरविरहिणी प्रेमिका वर्षों के बाद मिली है। मिलन की अवधि इतनी अल्प है कि वह एक क्षण भी जाया करना नहीं चाहती। मसलन, किसी अन्य की मौजूदगी का उसे आभास तक नहीं है।

सुधा की आंखों और मुद्राओं से मैं जान गया कि इसके जीवन-साथी का अविलंब चुनाव होना चाहिये। मैंने उसके पिता से जानना चाहा कि इस दिशा में क्या हो रहा है, परंतु मुझे यह पूछना नागवार लगा। 'प्रथम साक्षात्कार में ही तुम सुधा में इतनी रुचि लेने लगे! आखिर बात क्या है।' यही प्रश्न उसके पिता पूछ बैठे, तो मुझे बगलें झांकने के अलावा कुछ सूझेगा नहीं।

पूरे विश्व में जब एक समय एक ही भावधारा बहती है और उसके साहित्य में समानता पायी जाती है, तो दो हृदयों में एक समय एक ही भाव उठे—यह बड़ा आसान है। मैंने सुधा के विवाह के बारे में सोचना शुरू ही किया था कि उसने कहना शुरू किया—

'मैं इसके लिए जगह-जगह लड़का ढूंढ़ रहा हूं, पर मन के मुताबिक मिलता ही नहीं।'

'आखिर आपकी क्या शर्त है मैं भी जानूं।'

'इसका संकेत मैंने पहले ही कर दिया है, तुम समझ नहीं पाए।' यह कहकर वह कुछ सोचने लगा। कुछ उथल-पुथल हुई। उसकी त्यौरियों पर बल पड़ गए। फिर वह शांत होकर बोला—

'जो भी लड़का मैंने देखा, किसी को पाक-साफ नहीं देखा। उन्हें रूप-लंपट, उद्दंड और भिन्न-भिन्न फूलों पर मंडराने वाला भ्रमर पाया।'

तब तक सुधा हम लोगों की नजर से ओझल हो गई थी। शायद उसे पता हो गया था कि उसके निजी जीवन पर ही गंभीर विचार हो रहा है। उसकी बात सुनकर मैं उदास हो गया—'कौन इस अग्नि-परीक्षा में सुधा को अपनी पत्नी बना सकेगा?' मुझे भय था कि सुधा मेरी भावना जान नहीं जाए और इसी समय आ नहीं धमके। मैंने चारों ओर नजरें दौड़ाईं। दूर-दूर तक सुधा नहीं थी। शायद वह अपने आश्रम में चली गई थी।

इसी समय मादक हवा का एक झोंका, जिसमें फूलों की खुशबू बसी थी, मुझे बहा ले गया। इसी रम्य और उद्दीपक वातावरण में दुष्यंत और शकुन्तला का प्रेम खिला था। ऐसे मोहक माहौल में सचमुच सुधा का क्षण-क्षण कैसे कटता होगा? रात-रात भर वह आंखों में काटती होगी और अपने पिता को कोसती होगी—'काश, पिता यहां किसी दुष्यंत के प्रवेश की अनुमति देते!' मैं इसी चिंता में डूबा था कि वह आगे कहने लगा—

'तुम यही सोच रहे हो न कि मैंने उसका स्वभाव कैसे जान लिया।' मेरी उत्सुकता अधर में टंगी रह गई। मेरे कानों को विश्वास नहीं हुआ कि वह वही कह रहा है, जो मैं सोच रहा हूँ। तो क्या एक ही तार दो मानवहृदयों को जोड़ता है? मैंने हामी भरते हुए कहा—

'जी हां! मैं भी यही सोच रहा हूँ। आखिर, सुधा क्या आजीवन अकेली रहेगी?'

'नहीं जी, ऐसा क्यों होगा! एक बार मैं एक लड़के को देखने उसके

घर पहुँचा। मैं घर के बाहर खुली जमीन में टहल रहा था कि देखा सुधा का भावी वर पांच ऐसी युवतियों के मध्य घिरा है। महाकाव्यों के धीरोद्धत नायक के समान सब पर अपनी दृष्टि से अनुग्रह की वर्षा कर रहा है। मैं एक ओर खुश हुआ—उसका पौरुष देखकर, दूसरी ओर हुआ उदास उसका समूह-प्रेम देखकर। इसमें सुधा का जीवन मुझे अरक्षित मालूम पड़ा, निस्सहाय। इससे बेहतर सुधा कुमारी ही रहे।' उसके परस्पर विरोधी कथन से मैं झल्ला उठा। पर प्रत्यक्षतः मौन रहा। शायद गुत्थी सुलझे।

वह नहीं जान पाया कि सुधा का कौमार्य, उसका अनावृत पुष्प-सा यौवन मेरे मन को कितना अस्त-व्यस्त कर जाता है। सुधा फिर आकर मुझसे सट गई है। उसे अपने पिता की परवाह नहीं है। शायद, अपने पिता की मुझ पर अखंड आस्था देखकर वह इतनी ढीठ हो गई है। पिता भी इस तथ्य से अवगत हो गया है। मैं बिना विचारे सुधा का मुँह चूम लेता हूँ। उसकी मोहक आँखों में झांकता हूँ और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगता हूँ। कोई अतीन्द्रिय सुख मेरे मन-प्राणों में आसव घोल रहा है और धीरे-धीरे मेरी चेतना लुप्त होने लगती है। पता नहीं, इसमें कितना समय लगता है। मैं कुछ संकोच और कुछ प्रगल्भ दृष्टि से उसके पिता की ओर देखता हूँ और विनय की मुद्रा में कहता हूँ—'आपको सुधा के लिए आकाश-पाताल एक भी करना पड़े, तो कीजिए; पर सुधा की पीड़ा अब देखी नहीं जाती।' सुधा मेरी ओर कृतज्ञता से निहार रही है, उसका चेहरा संतोष की आभा से मुस्करा रहा है और उसका पिता कहता है—'वन-विभाग का अधिकारी सुधा के लिए नरहरिण देने को तैयार हो गया है।'

०

मौत

आज शंकर बड़ी हड़बड़ी में है। रात काफी देर के बाद सो पाया था। सुबह जगने में देर हो गई। तब तक सार्वजनिक नल का पानी बंद हो चुका था। भार वाला आस-पास के क्वार्टरों में पानी देकर चला गया था। एकाकी शंकर, न पत्नी न नौकर। पत्नी को मैके गए आज छः महीने बीत गए। नौकर शंकर की लापरवाही से टिक नहीं सका। यायावरी जिसके जीवन का मकसद बन गया हो, वर्त्तमान अतीत के कुलाबे मिलाना स्वभाव हो—वह नौकर को कब तक तरजीह दे सकता है ? एक दिन भोजन परोस-कर शंकर की प्रतीक्षा करता-करता नौकर ऊंघ रहा था। आखिर कब तक ऊंघता—सो गया। एक बजे रात शंकर ने दस्तक दी, तो कोई उत्तर नहीं आया। उसने आसमान सिर पर उठा लिया। नौकर जगा सही, पर उसी रात निकाल दिया गया। शंकर ने बगल वाले कुएं से दो बाल्टी जल लिया और उसे सिर पर उड़ेल स्नान की औपचारिकता निबाह कर जल्दी-जल्दी बस पकड़ने के लिए दौड़ पड़ा।

कलकत्ता महानगरी। लोगों की अपार भीड़। बस ऐसी जैसे लोगों को बोरों के समान ठूंसती कोई मालगाड़ी हो। क्षणभर के लिए रुकी नहीं कि फिर रवाना हो गई। शंकर ने झपटकर बस की हैंडिल पकड़ी ही थी कि बस झटके के साथ चल पड़ी। शंकर का एक पैर पावदान पर और एक बाहर लटका हुआ। लोगों का ठेला ऐसा कि हैंडिल हाथ से अब छूटे कि तब छूटे। एक ओर शंकर प्राणपण से दूसरा पाँव भी पायदान पर टिकाना चाहता था और दूसरी ओर इस स्थिति तक अप्रिय परिणाम के बारे में सोचता भी जाता था।

उसे लगा कि वह दुर्घटनाग्रस्त हो गया है। धड़ को कुचलती दूसरी बस गुजर गई है। कुछ काल के लिए ट्राफिक जाम हो गया है। कसूरवार बस का ड्राइवर तेजी से बस को दौड़ाता निकल गया है। कोई उसका नम्बर भी नोट नहीं कर पाया है। कुछ प्रगतिशील विचार के लोगों ने उसके प्रति हमदर्दी जताई है। ट्रैफिक वालों को कोसा है। व्यवस्था को वजनदार भद्दी गाली दी है। एक वर्ग इसे ही आड़े हाथों ले रहा है—लगता है देहात से नया आया है। बस वाले को इतनी फुर्सत कहाँ कि पैसेंजर को भीतर ठेल ले, तब गाड़ी बढ़ाए ! उसे अपनी समझ भी तो होनी चाहिए।

दूसरा बोला—जैसी करनी तैसी भरनी—भैया, मैं कहता हूं सब अपने करम का फल भोगने के लिए आये हैं। कोई किसी को न मार सकता है और न जिला सकता है।

भीड़ से मिली-जुली आवाज आती है—इसे अस्पताल पहुँचाया जाए। बेचारा शायद बच निकले। अब देरी करना ठीक नहीं।

इतना सुनना था कि लोगबाग धीरे-धीरे खिसकने लगे। जैसे पुलिस का गवाह बनना लोग नहीं चाहते हैं, वैसे ही अस्पताल तक जाने की इच्छा प्रायः लोगों में नहीं थी। एक नवयुवक, जो अप्रोन पहने था—लगा कि हाउस सर्जन हो और अस्पताल के बाहर भी अपना रोब गाँठना चाहता हो, आगे आया और सधे पाँवों से उसकी ओर बढ़ा। जैसे कुछ गोपनीय सूंघकर

पता लगाना चाहता हो । सीने से आला लगाकर कान से कुछ सुना या सुनने का नाटक किया और प्रत्यक्ष बोला—मर चुका है । अस्पताल की अपेक्षा पोस्टमार्टम हाउस ले जाना ज्यादा अच्छा होगा । इतना कहकर वह निर्विकार हो गया जैसे कुछ हुआ ही नहीं । भीड़ धीरे-धीरे फट गई—लोग अपने-अपने कामों की ओर अनायास ही बढ़ गए ।

शंकर के बड़े बाबू को किसी ने टेलिफोन से खबर कर दी है । वह दौड़ा हुआ साहिब के पास गया है—'सर, सर गजब हो गया, अनर्थ हो गया सर !'

'बात भी कहिएगा या प्रभाव ही बताते रहिएगा । हुआ क्या—यह तो आप बताते नहीं हैं ।' साहब बोले ।

—'आज शंकर बाबू बस से दुर्घटनाग्रस्त होकर चल बसे ।' मुँह पर रुलाई का आभास—गला कुछ-कुछ भरा-भरा ।

ऑफिस बंद हो गया है । दो मिनट के लिए मौन रहकर मृत की आत्मा के लिए प्रार्थना की गई है । बड़े बाबू, जगह-जगह शंकर की प्रशंसा करते नहीं अघाते, 'देवता थे शंकर बाबू, देवता । क्रोध करना उन्होंने कभी जाना नहीं था । बराबर सबकी मदद ही करते थे, भगवान् उनकी आत्मा को शांति दे ।' मल्होत्रा ऊपर से हाँ-में-हाँ मिलाता है, पर भीतर से खूब समझता है । यही शंकर कल तक बड़े बाबू की आँख का काँटा था । उससे लिए पाँच सौ रुपये तो डकार गए जैसे कभी लिया ही नहीं हो और उसको पद से डिगाने के लिए कुछ उठा नहीं रखा । उस पद पर वह अपने लाड़ले साले को बिठाना चाहता था । आज उसका भीतर आनन्द से झूम रहा है और ऊपर से ग़म का नजारा दिखा रहा है । आज ही रात वह रेहू मछली और गोविंद भोग चावल लेकर बड़े साहब के दरबार में गिड़-गिड़ाएगा और साले का रास्ता साफ करेगा । सच ही है, किसी की कब्र पर ही किसी की खुशी का महल खड़ा होता है । मल्होत्रा को यह ठकुरसुहाती अच्छी नहीं लगती । वह शंकर का दोस्त है—सुख-दुःख का बराबर भागी-दार, आज उसका भीतर शून्यता से भरता जा रहा है, पर बड़े बाबू के

कमीनेपन पर आक्रोश भी उमड़ना चाह रहा है।

उधर से आती है अनीता। बड़ी स्मार्ट और फ्लर्ट भी—कभी शंकर के दिल में घर कर गई थी। शंकर और अनीता की जोड़ी अमर थी। शंकर जो कमाता, अनीता पर कुर्बान करता। कुंवारे शंकर को कल की चिंता कहाँ थी और उसका आज अनीता के साथ खुशियों की खुशबू से महमह कर रहा था। समय पर लगाकर चला जाता है। रह जाता है यादों का सैलाब भर ही। शंकर का विवाह हुआ—अनीता पर वज्रपात हुआ। दिन दो दिन वह उदास रही—अनमनी, अपने आप में गुमसुम, पर यह स्थिति अधिक समय तक टिक न पाई। ऑफिस में मजनू अनेक थे—लैलाएँ कम थीं। सो वहाँ भी गहरी प्रतियोगिता थी। सुविधाओं की खिचड़ी पकती रही और अनीता अवसर के लाभ उठाती रही। आज शंकर की मृत्यु पर उसकी आँखें शून्य में कुछ तलाश रही थीं—पता नहीं, यह शंकर की तलाश थी या कभी भोगे गए क्षणों की मधुर स्मृतियों की या फिर यह सब एक नाटक था।

उसकी पत्नी उसकी यायावरी आदत से ऊबकर मैके चली गई है। उसके मैके वाले मालदार असामी हैं। लाखों का वारा-न्यारा उनका रोज का खेल है। शंकर उनके सामने एक गिलबिलाता नाली का कीड़ा भर है—उसकी कोई अहमियत न है और न बनाने की शंकर की ओर से कोई कोशिश ही हुई है। फिर एक साधारण किरानी से कुबेर की बेटी का विवाह क्यों कर हो पाया है? इसलिए कि शंकर प्रतिभाशाली है—किसी प्रतियोगिता में बैठकर क्लास वन ऑफिसर बन बैठेगा। इसीलिए शंकर चाँदी से खरीदा गया है, पर वह उनके अनुरूप न बन सका और न अपने को उस ठाठ-बाट में ढाल ही सका। कभी-कभी उसकी पत्नी ताना देती—"तुम क्या गरीबी का रोना लेकर बैठ जाते हो, तुम्हारी जो मासिक आमदनी है, वह मुझे विवाह के पहले पाकेट खर्च मिलती थी। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि तुम्हारे साथ बँधकर किसी तरह जी रही हूँ।" आए दिन ऐसी वारदातें होतीं—शंकर कभी-कभी बिफर जाता, जो सूझता बोल

जाता, पर कुछ देर बाद ही उसे अपनी गलती का अहसास हो जाता। वह ऊपर से समझौतावादी बनता जा रहा है। इसलिए कि अब भीतर ही भीतर जख्म वह पाल सकता है, पर ऊपर से उसे खुश रहने का स्वांग भरना पड़ता है। दूसरे के फेंके हुए पाश से मनुष्य कहाँ डरता है—उसकी भुजाओं में अनंत शक्ति होती है, जिससे उसे वह तोड़ सकता है। बखूबी उस पर विजय पा सकता है। पर अपने बनाये हुए बंधन में पड़कर वह भाग कहाँ सकता है? उसे भाग निकलने की राह कहाँ मिल पाती है? वैसी ही विवशता है शंकर की। ससुराल वालों की दृष्टि से उनकी बेटी तीन बच्चों की माँ बन चुकी है। नारी-जन्म की सार्थकता वह सिद्ध कर चुकी है। शंकर के मर जाने से वह विधवा भले ही हो सकती है—अनाथा, अनाश्रिता कैसे हो सकती है? उसका साला अतिशय प्रगतिवादी हो गया है। वह इतना भी साहस कर सकता है कि बहन के धुले सिंदूर को फिर लक्ष्मी की बैसाखी के सहारे किसी से जगमगा दे—उसकी बहन का वैधव्य मिट जाए। पैसा क्या नहीं कर सकता है? फिर भी उसकी पत्नी दुःखी हो गई होगी—सिर धुनकर रो रही होगी—उसके बाल हवा में लहरा रहे होंगे। उसकी बहनें, माँ, भौजाइयाँ गम की मूरत बनी या तो चुपचाप होंगी या शंकर की अनचाहे प्रशंसा कर अपूरणीय क्षति पर आँसू बहा रही होंगी। काल की गति पर अपनी असमर्थता को जी भर कोस रही होंगी।

शंकर के बच्चे होनहार हैं, इसलिए कि शंकर अपने जमाने का होनहार बालक रहा है। उसकी मेधा और लगन में रत्ती भर भी शंका की गुंजाइश नहीं है। शंकर जीता तो शायद बच्चों को अपनी औकात के मुताबिक शिक्षा देता—वे अपने व्यक्तित्व को नहीं माँज निखार पाते। पर अब तो मैदान साफ है। नाना, मामा उन्हें चाहें तो विदेशों में पढ़ा सकते हैं। उनकी उत्तम शिक्षा, दीक्षा पर उनकी माँ का प्रसन्न होना, फूला नहीं समाना स्वाभाविक है। परन्तु बिना बाप के बालकों को देखकर क्या कभी उसे बच्चों के बाप, अपने पति की याद नहीं आएगी? आ भी सकती है—पर वह याद याद बनकर रहेगी—न वह अभिव्यक्ति के द्वारा प्रकट

हो सकती है और न उस याद को मैके में सार्वजनीन ही बनाया जा सकता है। भय है कि प्रगतिवादी भाई कह बैठें, 'क्या होगा रेखा, अतीत के गीत गाने से, मरी बंदरिया को छाती में चिपकाने से। खुली दृष्टि रखो। वे रहते तो आज बच्चों को अपने मन मुताबिक किसी पाठशाला में पढ़ाते—बच्चों की यह शानदार शिक्षा न हो पाती।' वह शंकर को उसके जीते-जी कभी बर्दाश्त नहीं कर सके—कभी उसके होने के अहसास को सहला नहीं सके हैं। कभी शंकर को साले का सम्मान या प्रेम न मिल पाया है। आज वह मरे शंकर को महत्व देकर अपने को बौना क्यों बनाए? जिसका अहं आकाश की ऊँचाई छू रहा है, जो पैसे के नशे से पागल हो गया है, वह क्यों अपने बहनोई की मृत आत्मा के प्रति सद्भावना प्रकट करे? फिर भी ऐसा लगता है कि रात के सूनेपन में रेखा की आँखें बरबस भीग जाएँगी जिसको पोंछने वाला कोई न होगा। उसे शंकर का अभाव कभी-कभी इतना सालेगा, मैके का अहसान लाख-लाख दंश बनकर उसे जब घायल करने लगेगा, तो वह न रो पाएगी, न भाग पाएगी। किसी की करुणा की बैसाखी पर जीने वाली रेखा की काली रात कैसे बीतेगी भला? अच्छा हो कि सच्चाई से दर-किनार होकर वह सतही जीवन जीने की अभ्यस्त बन जाए।

कहने के लिए शंकर की माँ तीन बेटों की माँ है। उसे फुसलाने, बातों से खुश करने के लिए इतना ही काफी है—"आप तीन लाख की ढेरी पर बैठी हैं। आपके ऐसा भाग्य सबका हो। आपको कमी किस बात की है?" इससे न उसकी बूढ़ी माँ को कभी सहारा मिला और न आश्रय का ठोस आधार! मुलम्मा और बातों से वह खुश अवश्य हो जाती है और उन बेटों के हित के लिए प्राणपण से लग जाती है। उनकी यही समझदारी उनके दो बेटों के लिए वरदान है। शंकर सब समझता है। समझकर भी कभी माँ पर वस्तुस्थिति का अहसास नहीं होने देता। वह लाख गरीबी में रहकर, ट्यूशन कर, रात में भूखा सोकर भी माँ को सदा आर्थिक सहायता देता रहा है। पिता की मृत्यु के बाद ही सबसे छोटा शंकर कब पिता की

गम्भीरता और बुर्जगियत ले बैठा और अपने व्यवहार से पिता द्वारा माँ को प्राप्त सुरक्षा की क्षतिपूर्ति करता रहा—इसका पता ही नहीं चला। शंकर के समक्ष माँ की ममतामयी मूर्ति सदा उभरती। वह श्रद्धा में पगता और नियमित रूप से अपने वेतन का एक निश्चित भाग भेजकर संतोष का अनुभव करता। माँ को आश्वासन दिया जा रहा है—"एक बेटे के नहीं रहने से क्या होगा? दो बेटे तो हैं। आपको अब जीना ही कितना है?" माँ सब सुनती है। व्यथा में आँसू भी नहीं बहा पाती। दिन-दिन के भोजन में दाल और सब्जी की कमी, कमजोरी और रतौंधी के बाद भी साल-साल भर अंजन लगाने के लिए दूध भी नहीं मिलना माँ को सब कुछ समझा देता है। उसे वास्तविकता की कठोर धरती पर पैदल चलवा देता है। वह रह-रहकर बिसूरती है, शंकर की यादों में आहें भरती है। कितनी निस्सहाय हो गई है वह। शंकर के भाई की पाँचों अंगुलियाँ घी में हैं। न शंकर की ओर से जमीन की कोई देख-रेख होगी और न उसे पैदावार मिलेगी। इससे अर्थ-व्यवस्था में सुदृढ़ता का आना स्वाभाविक है।

उधर पोस्टमार्टं की रिपोर्ट भी आ गई है—"आत्महत्या के खयाल से वह चलती बस के आगे जान-बूझकर कूद गया है।' मित्रों में राजीव बड़ा दुःखी हो गया है। कारण, उसका संसार में अपना कहने के लिए शंकर को छोड़कर कोई नहीं है। वह विश्वविद्यालय के पिछले सारे रिकार्ड तोड़ चुका है और चार वर्षों से नौकरी की तलाश में चक्कर काटता रहा है। पता नहीं, वह कैसी घड़ी थी कि बस पर ही शंकर का राजीव से परिचय हुआ और दोनों मित्रता के सूत्र में बँध गए। दोनों में मूलभूल अंतर इतना ही है कि शंकर सारी व्यवस्था के प्रति विद्रोही होकर भी नौकरशाही का एक अंग बनकर पारिवारिक सीमाओं में बंधकर भीतर जो भी उबाल प्रकट करे, ऊपर से कुछ नहीं कर पाता है। राजीव को अपने घर खिला देना, दो-चार रुपये पाकेट खर्च के लिए दे देना और कभी-कभी सारी रात उसके खोलीनुमा घर में बातचीत में बिता देना आम बात है। इसके लिए शंकर कितनी ही बार पत्नी के ताने, उलाहने और कोपभवन से जूझ चुका

है, पर इससे राजीव के प्रति न उसके प्रेम में कोई दरार आयी है और न राजीव जैसे नवयुवकों के प्रति हमदर्दी में कमी ही। आज राजीव अपने को बड़ा असहाय अनुभव कर रहा है। वह सोच नहीं पाता है कि शंकर का अभाव कभी काल-प्रवाह दूर कर पायेगा भी या नहीं।

शंकर का मकान मालिक काफी रोया है। शंकर बाबू अपना पैसा गरीबों में क्यों न लुटा दें, मित्रों में क्यों न बांट दें, उसका किराया प्रत्येक माह की पहली तारीख को मिल जाता है। पिछले वर्ष शंकर एकाउंट्स की ट्रेनिंग में साल भर रांची रहा—रेखा अकेली क्यों रहती? वह मैके की कुबेर नगरी में ही रही। यह अलग बात है कि शंकर इस बीच कभी रेखा से मिलने नहीं गया, पर किराया नियमित रूप से भेजता रहा। कहाँ एक व्यावसायिक मकान मालिक, जिसके मकान में अब तक हजारों शंकर आ चुके होंगे, उसके मन में शंकर के अभाव से दुःख और उसकी सार्वजनिक अभिव्यक्ति। और कहाँ उसकी पत्नी, अर्द्धांगिनी, उसके बच्चों की माँ रेखा चाहकर भी न शंकर के बारे में सद्भावना के शब्द व्यक्त कर पाती है और न उसकी प्रतिष्ठा और उसूल की रक्षा के लिए आत्मावलम्बन का रवैया ही अपना सकती है। शंकर रहता और पत्नी जिद्द कर अलग रहने का ही समझौता करती, तो वह कभी चाहता कि वह मैके के टुकड़ों पर जिए। इसलिए कि शंकर जानता है कि वह श्वसुर हो या साला, जिसे पैसे बनाने और उसके बल पर सब कुछ करने की धुन सवार है, उससे उदारता और परोपकार के बारे में सोचना ही व्यर्थ है। उसके प्रत्येक काम के पीछे उसका स्वार्थ है। भांजों और बहन की परवरिश के पीछे अपनी अमीरी का ढोल पीटने तथा यश प्राप्ति के अलावा कोई उद्देश्य भी है क्या?

एक झटके के साथ बस रुक जाती है। बस वाला चिल्लाता है "चौरंगी, नामोन नामोन।" शंकर का आफिस बगल में है। वह अपने पड़ाव पर आ गया है। उसकी तन्द्रा को ब्रेक लगता है। वह उठकर अपने आफिस की ओर बढ़ता है। आॅफिस के मुख्य द्वार की दीवार घड़ी ग्यारह बजा रही है। वह कुछ चिंतित मुद्रा में बड़े बाबू के पास हस्ताक्षर करने पहुँचता है। बड़ा बाबू इन्हें ऊपर से नीचे तक निहारता है और गम्भीर आवाज में बोलता है—"शंकर बाबू, रोज-रोज का यही रवैया रहा, तो समझ जाइये।" शंकर का मन कसैला हो जाता है और वह अपने सहयोगियों पर एक उड़ती नजर डालता अपनी टेबिल की ओर बढ़ जाता है।

तसवीर

यह मेरी लापरवाही का ही परिणाम था कि मैं कभी अपने आफिस टिफिन बॉक्स नहीं ले जाता। टिफिन होते ही सबका मुंह देखने की अपेक्षा मैं तेजी से 'अलका' पहुँच जाता। मैं अच्छी तरह जानता था कि 'अलका' का नाश्ता मेरी सेहत और जेब दोनों के प्रतिकूल है। परन्तु यह जानकारी मेरे किसी काम की नहीं थी।

असल बात यह थी कि जिन कल्पनाओं के घोड़े पर सवार होकर मैं वहाँ तक आया था, वे घोड़े कब के लंगड़े होकर दम तोड़ चुके थे। बची थीं उनकी यादें। कभी-कभी जीवित प्राणी से मृत प्राणी की याद अधिक प्राणदायिनी होती है। वह अधिक भाती है। प्रेरित भी करती है। कभी-कभी लगता था, घोड़े मरे जरूर हैं, पर उनकी लाश पर नन्हा घोड़ा सिर उठा रहा है। यही अहसास मेरी सारी लापरवाही को पता नहीं कहाँ उड़ा देता था। मैं चुस्त-दुरुस्त अनुभव करता, पर यथास्थिति से तिल भर हटना भी मुझे स्वीकार नहीं था। विशेषकर खान-पान, रहन-सहन के मामले में।

स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, कलकत्ता में क्लर्क की नौकरी। कैश काउंटर संभालने से लेकर डिस्पैच तक का काम। कोल्हू का बैल। शाम तक एक ही केन्द्र के चारों ओर चक्कर। वही मंजिल। वही यात्रा। वही पड़ाव। उसके बीच फूल की भीनी-भीनी गन्ध के समान अचला की यादें मुझे किसी जादुई लोक की सैर कराने लगतीं। मैं भूल जाता अपना काम। खोया सा हो जाता। इसी से तीन बार नकद रोकड़ में कमी हो जाने के कारण मुझे अपने वेतन से उसे भरपाई करना पड़ा। अचला का नाम मन में आते ही कामनाओं की कलियाँ चटकने लगती थीं और मैं भूल ही जाता कि मैं अदने किरानी से अधिक कुछ नहीं हूँ। मन के बादशाह पर किसका अंकुश हो सकता है भला ! वह भी, जो किसी का प्राणोपम प्यारा हो, अभिन्नता की सीमा तक पहुँच गया हो।

मैं ऐसी किसी कल्पना में सुकून महसूसता रहता कि अपनी विवशता मुझे सालने लगती। हजार-हजार बिच्छू बनकर डँसने लगती। मैं अपने आप पर खिझलाता। अपने बौनेपन पर तरस खाता।

—'भूल जाओ मुझे अचला···मैं किसी की कृपा की बैशाखी पर तुमसे विवाह करना नहीं चाहता।'

—'आखिर तुम वास्तविकता से कतराते क्यों हो ? दुनिया क्या कहेगी ?'

—'यही न कि संजीव कायर है, पलायनवादी है ?'

—'नहीं, मैं ऐसा नहीं कहती।'

—'तब क्या कहती हो ? साफ-साफ कहो।'

—'पिताजी के पास चलो, सब समस्या हल हो जाएगी।'

'तुम्हारे पिताजी से मैं भीख माँगूं कि अपनी इकलौती लाड़ली का हाथ दीजिए और साथ निबाहने के लिए धन मुहैय्या कीजिए। यही न ?'

इस उत्तर के साथ तिक्तता और पराजय से मेरा मन भारी हो गया। उन दिनों मैं बी० एस-सी० करके किसी प्रतियोगिता में बैठने का आकांक्षी था। दो चार ट्यूशन ही मेरी जीविका की सहारा थे। इस पोली जमीन

पर मैं अचला की जिन्दगी की नींव नहीं रखना चाहता था। वह रोयी थी और रोती रही थी। मैं अपलक देखता रहा था। मूर्तिवत्। लगता था, मेरी चेतना मर गई है। मेरी भावना सूख गई है। मैं मशीन भर हूँ, पर अपने होने का बोध था, जिसके तहत समस्या से निपट ही रहा था।

वह चली गई थी दूर, बहुत दूर, पर मन से एक पल के लिए भी कहाँ हट पाई थी! मेरे मन में उसने ऐसी अमर मूर्ति बनाई थी, जिसे वक्त न तोड़ सकता था, न उसका चेहरा ही विकृत कर सकता था। लेकिन वह मूर्ति ही क्या, जिसकी आत्मा से साक्षात्कार न हो। वह विश्वास कैसा, जो अविश्वास की कोख से जन्म ले। वह वफादारी किस काम की, जो बेवफाई का सहारा लेकर पनपे बढ़े। अचला को मैं लाख याद करता, पर वह यही याद कर भरी बैठी होगी कि मैंने उसके साथ बेवफाई की। विश्वासघात किया। अपनी कायरता का परिचय दिया।

मुझसे विदा लेने के बाद मुश्किल से उसका एक पत्र आया। वह भी पत्र कम था, एक सूचना थी, एक औपचारिकता थी कि अचला नामक लड़की कभी मेरी प्रेयसी रही थी। मैंने इस पर बहुत माथापच्ची की थी। रोया था, पर उसका रवैया मुझे पसन्द आया था। मैंने सोचा था कि ठूँठ के आगे दिल खोलने से लाभ? पतित पत्थर पर बाण चलाने से फायदा? एक ओर उसे मैं न्यायसंगत मान रहा था और दूसरी ओर एक निश्चय का आधार ठोस कर रहा था—एक दिन अचला को आश्चर्य होगा, जब मैं आई० ए० एस० होकर उससे मिलूँगा और मुसकाते हुए कहूँगा—'लो, तुम्हारी इच्छा पूरी हुई। विवाह का दिन पक्का करो।....कहाँ चलोगी हनीमून के लिए?'

मुझे लगता अचला खिलखिलाने लगी है। उसका रोम-रोम मुसकुरा रहा है। उसकी आभा से मैं भी नहा उठा हूँ। पर इस भाव को अभिव्यक्ति का शब्द मैं नहीं दे पाता था। भय था कहीं शब्द वीराने में खो नहीं जाएँ। मेरे सपने कोई चुरा न ले जाए।

उस दिन सीढ़ियाँ उतर कर मैं अलका की ओर बढ़ा ही था कि मधुर

आवाज से चौंक उठा।—संजीव, जरा रुको तो....। आवाज मेरे मन के भीतर उतरती गई। पर्त-दर-पर्त हौले-हौले छूती गई। मैं यह समझने में विलम्ब नहीं कर पाया कि अचला का अप्रत्याशित इलाहाबाद से आना और स्वर में उद्विग्नता जरूर किसी हादसे का कारण है। मैं बड़े तपाक से मिला और चाहा कि क्षणभर में ही अपना हृदय उड़ेल कर रख दूँ, पर उसका उदास, खोया-खोया चेहरा देखकर सहम गया। मैं कुछ बोलूं, तब तक उसी ने पहल की। 'मैं बड़ी मुसीबत में हूँ, संजीव।' —'इतनी जल्दीबाजी क्या है ? चलो, 'अलका' में बैठकर बातचीत करते हैं।'

उसके कदम जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। मेरे पहुँचने के पहले वह एक एकांत कोने में बैठ चुकी थी और बड़ी आतुरता से मुझे देख रही थी। मैंने आते ही कनखियों से उसे देखा और कॉफी का आर्डर देकर सामने बैठ गया था। कुछ मिनट अखंड शांति रही, मानो तूफान के पूर्व की शान्ति हो अथवा दो प्रतिद्वन्द्वी लड़ने के पहले अपने दाँव-पेंच सोच रहे हों। मैंने सहलाने वाली दृष्टि फेरी। उससे आश्वासन झरता था। उसने अपने बोझ को लगभग फेंकते हुए कहा—'मैं माँ बनने वाली हूँ, संजीव!' तब तक काफी मेरे हाथ में आ गयी थी। वह हाथ से छूट गयी, मेरे पैंट पर भी पसर गई। एक साथ कई प्रश्नों का नुकीलापन मेरे पूरे वजूद को वेधने लगा। उससे जुदा हुए दो वर्षों का लम्बा अन्तराल ! फिर माँ बनने का दुर्बल बोझ मुझ पर उतारने आई है। सवाल के इन तालों से मेरी सारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वार अवरुद्ध हो गए।

इतना कह वह उत्तर की प्रतीक्षा में कॉफी से निकली भॉप को देखने लगी। मेरे सामने पूरा अतीत था और भविष्य की रूपरेखा तैयार हो रही थी, पर मेरा मन सोच नहीं पाता था कि अचला की रूपरेखा में मेरी साझेदारी कहाँ तक उचित है। आखिर मुझसे रहा नहीं गया। —तुम्हारी कोख में पलते बच्चे के पिता का उत्तरदायित्व मुझ पर है ? यह किसी प्रश्न का वार नहीं था, किसी भीषण वज्र का प्रहार था। उसका चेहरा गोधूलि के समान पीला पड़ गया। वह वहीं फफक पड़ी और

बमुश्किल कह सकी। 'मैं लुट गई संजीव—मैंने अपने प्रिंसिपल—से तुम्हारा नाम कहा है—तुम उबार सकते हो—अचला को उठा सकते हो—बोलो न संजीव।'

मेरा हृदय पिघल-पिघल कर बहने लगा। पर उस बहाव के साथ भी कुछ चट्टानें थीं, जो बाधा डालती थीं। अचला का अतीत मेरी नजर में जितना पावन था, भविष्य उतना ही लिजलिजा लगा। मेरा मन बड़ी तेजी से इधर-उधर चक्कर काटने लगा। एक निश्चय ने तुरंत आकार ग्रहण कर लिया।—'मैं विवाह करने के मामले में पहले जैसा मजबूर था, आज भी वही मजबूरी है।'—'तुम भागो नहीं संजीव, केवल हामी भर दो। समाज के सामने मुझे अपनी परिणीता बना लो।'—'भागने का सवाल नहीं है। न तुम्हारे कृत्य से मुझे कहीं कोई शिकायत है। मैं इस स्थिति में हूँ ही नहीं कि विवाह के लिए हाँ कह पाऊँ।'

वह बिना काफी पिए बाहर निकल गई। मैं जान भी नहीं पाया कि भीड़ में वह कहाँ खो गई। उसके चले जाने पर मैंने अपने को धिक्कारा—'संजीव! तुम इतने कायर हो? क्या तुमने अचला से चालाकी नहीं की? क्या आत्मवंचना से बच सकते हो तुम?'

वक्त की रफ्तार पता नहीं कितनी तेजी से बढ़ी कि मैं क्लर्की की सीमा लाँघ फाँदकर सचमुच आई० ए० एस० हो गया। मंसूरी पहुँचा ट्रेनिंग में। वहाँ दूसरे प्रांतों से स्मार्ट लड़कियाँ आई थीं। नाना कल्पनाएँ विलास करने लगीं। कामनाओं की कई अनजानी कथाओं ने ताना-बाना देना शुरू किया।

मैं एक मायालोक में अपने को बिरमाने की सोच रहा था कि अचला सामने आकर खड़ी हो गई। हाँ, वह वही अचला थी। कॉलेज दिनों की वही शोखी, वही चंचलता, बात-बात पर मुझे परास्त करने के लिए तत्पर। पारस्परिक मिलन की वही तीव्रता। वक्त की धुन्ध में कुछ नहीं बदला था। मैं अलका में आई अचला के पीत मुखमंडल को खोजकर परेशान हो गया। वह कहीं नहीं था।

इसने खुशियों के गवाक्ष खोल मुझे उसके साथ अतीत की गलियों में भटकाना शुरू किया। अतीत कितना ही दुःखद हो—वर्तमान में बड़ा सुखद और मोहक लगता है। ध्वस्त वर्तमान से पराजित अतीत की छाँह में ही विश्राम कर सुख पाता है।

मैं उसके साथ एक-एक घड़ी सार्थक कर ही रहा था, उसकी यादों को जी भर सहला ही रहा था कि रह-रह कर उसकी माँ वाली मजबूरी मुझे बेधने लगी। मैं अपदस्थ होने लगा। अपराध भाव, जो अब तक गेंडुली मारे बैठा था, सिर उठाने लगा। उसके फन से मुझे भय होने लगा। इसी समय मुझे अपनी माँ का मासूम चेहरा दिख गया। वह भी ऐसे ही अलल सुबह पापा के पास आई थी। उसकी कातर आँखें बहुत कुछ कह गई थीं। मेरे पापा से उसका परिचय भर था। कभी पापा ने भी उसे अपनाने का स्वप्न पाला था। पर काल की कठोरता में सब दब गया था। रिश्ते का सवाल नहीं था—उसके होने का कोई सार नहीं था, पर पता नहीं, आत्मयीता की कौन आँच उन्हें पिघला गई। माँ को आजीवन स्थाई आश्रय मिल गया था।

कभी नहीं प्रकट किया पापा ने कि मैं अवैध संतान हूँ। कभी माँ पर इसका अहसान नहीं लादा पापा ने। मैं हाल तक नहीं जान पाया कि मैं पापा की जाई संतान नहीं हूँ। यह अलग बात है कि आजीवन माँ सेवा की साकार प्रतिमा बनी रही। पापा को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अहसान का बदला चुकाती रही। तीन-तीन संतान हुईं पापा को, पर कभी भेद नहीं जाना। उनकी माली हालत सदा अच्छी रही। वह वचन के पक्के थे, हिम्मत के धनी। मिहनती ऐसे कि उनके स्पर्श से पत्थर पानी बन जाए, मरुभूमि नंदन बन जाए।

मैं अपने चेहरे में पापा का चेहरा ढूंढ़ने लगा। मुझे आश्चर्य हुआ कि मेरे चेहरे में उनका चेहरा कुछ क्षण के लिए साट दिया गया। मैं अपलक देखता रहा—जी भर निहारा। मुझे अपनी ही लघुता मथने लगी। मैंने झटका देकर उखाड़ फेंका उनका चेहरा और ठठाकर हँसा—'पापा

बनते हैं ?....पता नहीं, मेरा असली पापा कहाँ है !' इससे क्या होता है—फिर पापा मुझ पर हावी होने लगे। मेरी मां का भोला-भाला मुख-मंडल मेरी आँखों के आगे घूमने लगा। उसमें अचला का चेहरा बीच-बीच में झाँक जाता।

फिर कभी मां, कभी अचला कभी दोनों गड्डमड्ड। आठ वर्षों की दीर्घ अवधि कैसे कट गई, जान भी नहीं पाया। मैं बंगाल के एक जिले में कलक्टर हो गया था। प्रारंभिक कुछ वर्ष अपने को व्यवस्थित करने में लगे। महत्वाकांक्षा की वाटिका में फूलों को खिलते देखने में बीता। मैं अपने आप पर फूला नहीं समाता था—'संजीवकुमार, भारतीय प्रशासन-सेवा'। फिर कुछ हुआ कि अचला की करुण मूर्ति आँखों में तैर गई। कुछ समय तक मैं जड़वत् रहा। फिर सोचने लगा कि हर अचला माँ होती है क्या ? हर माँ पहले अचला होती होगी क्या ? इस मानसिकता ने मुझे कुछ काल के लिए अस्त-व्यस्त कर दिया। मेघों के बीच जैसे बिजली चमकती है रह-रहकर, वैसे ही अचला मेरे मन के आइने पर चमकने लगी। उसकी आत्मीयता की डोर मुझे अपनी ओर खींचने लगी। कभी-कभी प्रायश्चित्त पुण्य कर्म से अधिक वजनी होता है।

मैं अचला के शहर की ओर रवाना हुआ। बंबई मेल हवा से बातें कर रहा था, पर लगता था चींटी की चाल से रेंग रहा है। मैं काल के पार चला जाना चाहता था। वक्त के गर्द-गुबार को झाड़ पोंछकर।

मेरा रोम-रोम चेतना का पुंज बन गया था। उससे आलोक का मंडान बनता जा रहा था। कुछ छिपा नहीं था। एक्सरे किरणें सब कुछ आर-पार देख सकती थीं। कॉलेज एस्क्वायर के पास अचला मचल जाती।

—'आज मैटिनी सिनेमा, फिर किसी अच्छे होटल में डिनर।'

—'तुम्हारे लिए प्राण हाजिर है। यह कौन सी बड़ी बात।'

उस जमाने में मेरा नाम रईसजादों में गिना जाता था। पापा हर माह बैंकड्राफ्ट भेजते। भविष्य के सुनहरे सपने थे। अचला ऐसी लड़की मेरी दोस्त थी, जिससे दोस्ती का हाथ बढ़ाने मेरे वर्ग के सभी आतुर रहते

थे। वफादारी का बेमिसाल नमूना थी। अचला का कई जगह से विवाह का पैगाम आया, पर वह जिस राजकुमार का स्वप्न देख रही थी, देखती ही रह गई। एक दिन शिव मंदिर में दोनों ने साथ जीवन बिताने की कसमें भी खाई थीं। वह पूर्णतः आश्वस्त थी।

सिनेमा रील की तरह एक-एक दृश्य सामने पर्दे पर दिखाई पड़ रहा था? बैंक में ज्वाइन करते-करते पापा खुदा के प्यारे हो गये। बड़ा बेटा मैं। सबका उत्तरदायित्व। उसमें मुहब्बत को अंजाम देने का वक्त कहाँ था? इधर सोच भी नहीं पाता।

गाड़ी दौड़ी जा रही थी। मेरा मन जीरो रोड में स्थित अचला के पुराने मकान के पास होता जा रहा था।

आई० ए० एस० की शान-शौकत। विचार हुआ कि किसी बड़े होटल में तरोताजा होकर फिर अचला से मिला जाए। वहीं घिसटने लगा। पर मन ने कहाँ माना। मन जहाँ उड़ता था—तन भी वहीं घिसटने लगा। मैंने जल्दी से टैक्सी बुलाई और उसे जीरो रोड चलने का संकेत कर धम्म से बैठ गया। जानी-पहचानी दूकानें, सड़कें, गलियाँ पार करती टैक्सी भागी जा रही थी, पर मुझे लगता था—कि वे अपरिचय के कोहरे में ढँकी हैं। पूरा शहर अंधकार में घिरा है और बीच में एक द्वीप है 'कामायनी'। अचला के घर का यही नाम था। प्रकाश का पुंज। वही पूरे शहर को आलोकित करता था।

मेरे दिल की धड़कन बढ़ गई थी। आशा-निराशा का द्वन्द्व छिड़ा था। शायद, अचला नहीं मिले। संभव है, वह विवाह कर अलग गृहस्थी बसा चुकी हो। मुमकिन है, अपनी गृहस्थी में फँसी अचला मुझे पहचानने से इन्कार कर दे। वह प्रेम के सरोवर में असमय, अकारण हल-चल क्यों मचाए? इसकी भी आशा थी कि वह गर्मजोशी से मिले।

—'प्रतीक्षा के देवता आ गये! तुम्हारा स्वागत है। देर नहीं हुई है, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में बैठी हूँ।'

'कामायनी' का नाम पट दिखाई देने लगा था। धड़कन और भी तेज

हो गई थी। टैक्सी से उतर कर मेरे पाँव लड़खड़ाए, पर मैंने संभाल लिया और हिम्मत बांधकर दरवाजे के सामने खड़ा हो गया। ऐसा लगता था याचक बहुत बड़े दानी के पास बहुमूल्य चीज माँगने आया हो।

सामने बरामदे पर एक आठ वर्ष का लड़का खड़ा था। उसके चेहरे में अचला को चिपका दिया गया था। मुझे माजरा समझते देर नहीं लगी। फिर भी निराशा के विरुद्ध आशा का संग्राम जारी था। मैं एकटक उसे देखे जा रहा था। मैं कुछ पूछता कि वही कह उठा—

—'आप किससे मिलना चाहते हैं? पापा नहीं हैं। बाहर गए हैं। माँ से मिलना चाहेंगे? मैं बुला दूँ।'

मुझे अपने घर में लटकती हुई अपनी उस तस्वीर की याद आ गई, जिसमें आठ वर्ष की उम्र का बालक मुसकुरा रहा है। माँ का मुखड़ा सामने आ गया। फिर पापा भी आ गए। मैं धीरे-धीरे सहमे कदमों से लौटने लगा। मुझे भय था कि मेरे मौन को स्वीकृति जान वह अपनी माँ को कहीं बुला न लाए।

पवित्र ज्वाला

आज वह बहुत उदास था। उसके चेहरे से ऐसा अहसास होता था कि वह निराशा की खाईं में गहरे और गहरे धंसता जा रहा है। वहाँ न कोई आकर्षण है और न जीने का लुत्फ। शाम घिर आयी थी। बादल का एक टुकड़ा आकाश में चहलकदमी कर रहा था। वर्षा होने के आसार मालूम पड़ते थे। हवा में अजीब खुमारी थी, गजब की मादकता थी। उसके हृदय में कुछ मथने लगा। उसकी देह ऐंठने लगी। उसी समय उसकी पत्नी प्रिया उसका हालचाल लेने आ पहुँची। प्रिया जितनी खूबसूरत थी, उतनी ही मृदुभाषिणी। उसकी वाणी में मधु घुला रहता था। इस समय वह काफी उत्फुल्ल नजर आ रही थी। प्रसन्नता उसमें समा नहीं पा रही थी।

प्रियंक सोचने लगा—'कितनी खुश नजर आती है प्रिया! लगता है प्रसन्नता देह धारण कर उसी के पास आ गयी है। खुशी से उसके बोल नहीं फूट पा रहे हैं। कितनी कठिनाई से वह कह पाई—'प्रियंक कैसे हो तुम, तुम्हारे पड़े-पड़े रहने से मुझे कितना दुःख होता है! काश, तुम जान

पाते।' यह गमभरी बात कहते हुए ऐसा लगा था कि वह नाटक का कोई रिहर्सल किया वार्तालाप दुहरा रही हो। उसमें कहीं कोई आत्मीयता की गंध नहीं आती थी, पर ऐसा सोचना व्यर्थ है। मैं हूँ विकलांग, दोनों पैर नदारद। मेरी यही नियति है कि जब तक जिन्दा रहूँ, घुल-घुल कर जीऊँ, तड़प-तड़प कर शेष जिन्दगी का एक-एक लम्हा काट सकूँ। वह वय से युवती है, चढ़ती उम्र है—इस उम्र की कुछ पुकार है, कुछ तकाजे हैं। वह अरमानों को दफना कर क्यों मुझसे जुड़ी रहे? वह क्यों जीते जी अपने को दफनाने के लिए तैयार हो जाये? यही उसकी महानता है कि वह मेरा इतना ख्याल करती है। जब सुख के दिन आये, धूमकेतु की तरह मेरे भाग्याकाश में यह दुर्घटना घट गयी। कहाँ मेजर का पद—उसकी शान, रुतबा और कहाँ अब सुरक्षा-विभाग की कृपा (पेंशन) की बैसाखियों पर शेष जिंदगी काटने का मंसूबा! कब मैंने सुख दिया बेचारी को?'

वह प्रिया के प्रति अजीब ममत्व और प्यार से भींग उठा। उसे याद आने लगी वह घड़ी, जब प्रिया एकांत पाकर सज-सँवर कर आई थी। खिड़की से चाँद झाँक रहा था। शीतल पवन हिलकोरें ले रहा था। वातावरण में ऊष्मा फैल रही थी। मादा छिपकिली नर छिपकिली के पीछे-पीछे दीवाल पर दौड़ रही थी। उसकी सेवा करने वाली नर्स छुट्टी लेकर चली गयी थी। उसकी माँ भी किसी बहाने खिसक गयी थी।

अच्छा मौका ढूँढ़ कर आयी थी प्रिया। उसके चेहरे पर लाली आ गयी थी—आँखों में एक निमंत्रण था। उसका हाथ प्रियंक ने थामा था। लगा था बुखार से तप रही है प्रिया। उसे समझते देर नहीं लगी थी कि प्रिया का निशाना कहाँ है, पर वह अवश था, बेचारा। कितना टूट गयी थी प्रिया उस दिन। उसकी तड़पन ने उसे भीतर तक झकझोर दिया था। वह ऐसे मौके पर कुछ बोल नहीं पाया था, पर उसके प्रति एक अपराध-भाव से ग्रस्त हो गया था।

प्रियंक युद्ध के मैदान से दो पैर गँवा कर तो आया ही, उसका एक भाग लकवे के कारण सुन्न भी हो गया था। उसे उठने-बैठने की सख्त

मनाही थी। उसकी सेवा-सुश्रूषा के लिए एक नर्स रखी गयी थी। उसकी विधवा माँ थी। उसकी पत्नी थी, छोटा भाई था।

दया का स्रोत कब किसमें फूट पड़ेगा—इसका अनुमान लगाना मुश्किल है। जिस प्रकार कब किस पहाड़ी चट्टान के नीचे से जल बहने लगेगा, कहना कठिन है, उसी प्रकार कब कौन किस भावना से प्रेरित होकर किसी के प्रति दया-ममता की अजस्र वर्षा करने लगेगा, यह कहना भी मुश्किल है। रात का समय था। दीवाल घड़ी ने टन-टन कर बारह बजाया। सारा परिवार नींद में बेसुध पड़ा था। इतनी शांति थी कि अपनी धड़कन भी साफ सुनाई पड़ रही थी। बाहर कभी किसी ट्रक के चलने की आवाज, कभी चौकीदार के खांसने और होशियार करने की आवाज निस्तब्धता भंग करने की कोशिश करती थी। ममता और प्रियंक जाग रहे थे। पता नहीं, उनकी नींद कहाँ गुम हो गयी थी। लगता था किसी अनबूझ पहेली को सुलझाने के लिए वे जाग रहे हैं। निरंतर चिंतन में लीन हैं।

प्रियंक की एक सर्द आह ने चुप्पी तोड़ी थी। उसने कराहते हुए कहा था—'तुम मेरी सेवा के लिए बहाल हुई हो, फिर भी अपने कार्यकाल की सीमा लाँघ कर दिन-रात का भेद किये बिना मेरी देखरेख करती रहती हो। दूसरी नर्स रहती—कुछ लेट आती और आठ घंटे पूरे होने के पहले ही कुछ बहाना बना कर चल देती। मैं समझ नहीं पाता कि तुम मेरे लिए इतना कुछ क्यों कर रही हो ?'

—मैं आपके लिए विशेष कुछ नहीं कर रही हूँ। अपना फर्ज भर निभा रही हूँ।

—जिसे तुम फर्ज कहती हो—वह फर्ज भर ही है क्या ?

—सेवा के लिए मेरा जन्म ही हुआ है। फिर जिस सुख-वैभव की दुनिया आपसे दिन-दहाड़े लूट ली गयी है, उसका अभाव कोई क्या भर पायेगा ? मेरे मन के किसी कोने से यह आवाज आती है कि मैं भरसक आपके जख्मों पर शीतल फाहा रखने की कोशिश करूँ।

—ममता, तुम सचमुच ममता की देवी हो। तुम कितनी महान् हो।

—एक अदना नर्स को देवी का पद देकर उसका उपहास मत उड़ाइए।

प्रियंक को लगा कि ममता जो कुछ कर रही है—अपने मन से कर रही है। उसे किसी प्रतिदान और वाहवाही की आशा नहीं रहती। मानो निःस्वार्थ सेवा ही उसका कर्त्तव्य हो। यद्यपि वह पूर्ण निःस्वार्थ सेवा नहीं कहला सकती, पर नौकरी करने और उसकी सेवा में कोई तुलना नहीं हो सकती थी।

इसी समय प्रियंक की माँ आ गयी। आते ही अपनत्व भरे शब्दों में उसे झिड़की दी—'रात के ग्यारह बज रहे हैं। तुम दस बजे दिन में ही आई हो! यह कोई नौकरी है। न समय का ठिकाना और न अपने खाने-पीने की सुध। बाज आई ऐसी नर्स से।' ममता ने इसका जरा भी बुरा नहीं लिया। उसके कथन में आत्मीयता गूंज रही थी। वह विनम्रता से बोली —'हर्ज ही क्या है मांजी! कुछ देर हुई तो क्या हुआ? अब आप आ ही गयी हैं। उन्हें अकेले छोड़ने में न जाने क्यों मुझे भय लगने लगता है।' यह कह कर ममता औपचारिक अभिवादन के बाद चली गयी।

रात अपनी पूरी जवानी की ओर बढ़ती जा रही थी। प्रियंक सोचने लगा - अभी तो वह भी खा-पीकर अपने बेड रूम में आराम कर रहा होता। प्रिया के साहचर्य सुख की कल्पना से वह भाव-विभोर हो उठा। उस समय प्रिया की याद आना स्वाभाविक था। वह अधिक समय तक इसके पास नहीं टिक सकती थी। कभी कभार औपचारिकता भर के निर्वाह के लिए आती और चली जाती। कभी नर्स उसे मुक्त करा देती, कभी माँ और कभी प्रियंक ही कहता—'जाओ प्रिया, कितनी देर रुकोगी? तुम्हें घर-गृहस्थी भी संभालनी है। ढेर सारे काम से घिरी रहती हो तुम। जाओ आराम करो।' वह तत्काल चली जाती थी, मानो इसी की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी।

प्रियंक के मन के आकाश में कभी प्रिया के प्रति शंकाओं के मेघ नहीं मँडराए। वह उसे एकदम पाक-साफ समझता था। भरी जवानी में पति-विमुखता से उत्पन्न उसकी व्यथा को स्वयं भोगता था और उसके प्रति

अहसान भार से दबा रहता था। वह अपने मन को माफ नहीं कर पाता था कि उसकी विकलांगता प्रिया के सुख-सौभाग्य की लिपि पर कालिख पोत गयी है, जिसका सुधार ब्रह्मा भी नहीं कर सकते। यद्यपि यह सब नियति का खेल था। इसमें प्रियंक का हाथ नहीं था, पर वह अपने को दोषी समझता था। अतएव, उसके मन के किसी कोने में प्रिया के प्रति न कोई गिला था न शिकायत।

रात बुढ़ापे की ओर सरक रही थी। दीवाल घड़ी दो बजा रही थी। माँ तब तक अपने बेटे को निर्निमेष देखे जा रही थी, मानो उसके चेहरे पर खुदे अक्षर पढ़ रही हो और एक-एक अक्षर समझने में उसे काफी माथा-पच्ची करनी पड़ रही हो। जाड़े का समय था। खिड़कियाँ बन्द थीं। केवल रोशनदानों से हवा आ सकती थी। ठण्ड से बचाव के लिए दरवाजे लगा दिये गये थे। कमरे में नाइट लैम्प की हरी मद्धिम रोशनी फैल रही थी। कमरे की सारी वस्तुओं पर अस्पष्टता छाई हुई थी। कोई चीज एकदम साफ-साफ नहीं देखी जा सकती थी। प्रियंक की भाग्य लिपि भी क्या इतनी अस्पष्ट और धुँधली है— वह सोचने लगा।

समय को पर लग गया था। वर्ष पर वर्ष बीतते गये। पाँच वर्षों की लम्बी अवधि ऐसे बीत गयी, मानो दिन-रात के चौबीस घंटे। सूरज समय पर उगता रहा, डूबता रहा। दिन-रात अपना धर्म निबाहते रहे। उसी प्रकार ममता भी अपने कर्त्तव्य के अलावा प्रियंक पर ममता उड़ेलती रही। उसने इस पर बहुत सोचा, बहुत चिंतन किया, पर उसे प्रियंक के प्रति इतनी ममता का राज नहीं मिला। न उसे उसके धन से किसी तरह का लोभ था, न उसके शरीर से और न उसके परिवार से। किसी घड़ी में कोई भाव ममता को इतने भीतर तक बहा ले गया था जिसका प्रभाव आज तक था। उस भाव का केन्द्र था प्रियंक।

उस दिन सोमवार था। सड़कों पर काफी चहल-पहल थी। रविवार की बंदी से कुछ-कुछ शिथिल वातावरण भी जाग गया था। सड़कों पर लोगों का मेला उमड़ रहा था। कलकत्ता ऐसा महानगर। जरा-सी गड़बड़ी

हुई कि सारा ट्राफिक जाम। फिर चींटी की चाल से रेंगने लगी बसें, ट्राम, टैक्सियां ! ममता को पिछली रात लौटते हुए एक बज गये थे। सुबह जगने में विलम्ब हो गया। फलतः उसे टैक्सी करके प्रियंक के घर जाना पड़ा। उसकी टैक्सी उसके विशाल हाते में घुसी ही थी कि पुलिस वान तथा कई कारें दिखाई पड़ीं। वह जल्दी-जल्दी भाड़ा चुका कर प्रियंक के कमरे की ओर बढ़ी। कमरे में पुलिस के अधिकारी भरे हुए थे। इसने प्रियंक की लाश देखी तो अवाक् रह गयी। लगा कि वह बेहोश होकर ढह जायेगी, पर उसने अपने को संभाल लिया। उसका मस्तिष्क बड़ी तेजी से काम कर रहा था। कौन हो सकता है इसका हत्यारा ? वह कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि प्रियंक को कोई मार भी सकता है। इतने असहाय और विवश की भी कोई हत्या कर सकता है ?

पुलिस अधिकारी ममता की ही प्रतीक्षा कर रहे थे। उनका यह भी अनुमान था कि वही रात में घर जाते समय उसे कुछ खिलाकर (दवा के बहाने) चली गयी। उससे काफी पूछताछ के बाद भी पुलिस को कोई सुराग नहीं मिला। पुलिस अधिकारी से मुक्त होते ही ममता धाड़ मार कर रोने लगी। इतना दुःख उसे अपने पिता की मृत्यु पर भी नहीं हुआ था— जब वह उसे एकदम अनाथ बना कर गये थे।

आसपास के लोगों से पूछताछ के दौरान पुलिस अधिकारी को पता चला था कि संभव है प्रिया ने उससे सदा-सदा के लिए पिंड छुड़ाने वास्ते जहर खिला कर मार दिया हो। परन्तु ममता के बारह बजे रात प्रियंक के कमरा छोड़ने के बाद वहाँ कोई नहीं गया था। हाँ, एक बार माँ अवश्य गयी थी—आश्वस्त होने कि सब दवाइयां पड़ गई हैं तो, उसने दूध पी लिया है तो ? फिर मां अपने बेटे को जहर देकर मार सकती है भला ? यह कल्पना के परे की बात थी। पुलिस अधिकारी इस दिशा में सोच भी नहीं सकता था।

प्रिया पलंग से सोकर उठी ही थी कि उसे देवर ने खबर दी 'भैया का देहांत हो गया है।' प्रिया खूब रोई थी— माथा दीवाल से टकरा कर फोड़

लिया था। उसे लगा था कि जीर्ण-शीर्ण जीवन तरी ध्वस्त हो गई है। जिंदगी के बारे में नये सिरे से सोचा जा सकता है। यह तो पड़ोसी लोग थे, जिन्हें देवर-भाभी के सम्बन्धों की गंध मिल गयी थी। प्रेम, प्यार छिपाये जा सकते हैं भला! लेकिन देवर और भाभी उसकी स्वाभाविक मौत के प्रति आश्वस्त हो गये थे। ममता की सफाई और पुलिस को पड़ोसी में भेजी गयी रिपोर्ट ने शंका की गुंजाइश पैदा की। प्रिया को बहुत ठण्डा और निस्संग देखकर (तब तक वह वैसा हो भी गई थी) पुलिस अधिकारी को पूरा सन्देह हो गया था कि वह साजिश की नायिका और हत्यारिन है।

मां चुप थी—एकदम मौन, जैसे किसी घटना की मूक दर्शिका हो, जैसे उस घटना से उसे कुछ लेना-देना नहीं हो। लगता था कि वह जनक की भांति विदेह हो गई है। पुत्र की लाश पड़ी है और वह निर्विकार, अनासक्त पड़ी है, जैसे यह कोई घटना ही नहीं हो या फिर इसका उससे कहीं किसी बिन्दु पर लगाव नहीं हो।

अधिकारी प्रिया से प्रश्न प्रति प्रश्न किये जा रहे थे जिसके लिए वह अपने को तैयार नहीं पा रही थी। वह भी इस अप्रत्याशित स्थिति से नर्वस-सी हो गई थी।

उधर माँ वहाँ से खिसक कर एक कमरे में चुपचाप बैठी थी। एक ओर यह कर्म उसे पश्चात्ताप के लिए विवश कर रहा था, पर दूसरी ओर वह अपने किये पर दृढ़ थी—एकदम अविचल, मानो ध्रुवतारा हो। उसे प्रियंक की एक-एक बात याद आने लगी कि किस प्रकार एक दिन जिन्दगी से ऊब कर वह उसके समक्ष फूट पड़ा—'अब यह जिन्दगी दुर्वह बोझ हो गई है। कृपा की बैसाखियों पर जीने में आत्मा को तकलीफ होती है। जीने में आकर्षण ही क्या रह गया? परिवार के सारे लोग मेरी लाश को सड़ने से बचा रहे हैं। यही सच्चाई है मां! तुम पुत्रवाली हो और प्रिया सधवा है। इससे अच्छा रहता कि उसका सिंदूर धुल जाता और वह अपनी जिंदगी को नये सिरे से सहेज लेती, बिखरने से बचा तो लेती। यह क्या? न वह जी सकती है और न मेरे साथ घुल-घुल कर मर ही सकती है। अपने अरमानों

का रोज-रोज गला घोंट कर हत्या करने की अपेक्षा वह मेरी हत्या कर दे, तो अच्छा हो। मैं सुख की नींद सो जाऊँ और तुम लोगों को मुक्त कर दूं।' यह कह कर वह कराह उठा। उसकी कमर में दर्द की एक तेज लहर दौड़ पड़ी थी।

—अपने मुंह से अशुभ बात नहीं निकालते बेटा! राम-राम! क्या-क्या तुम बोल जाते हो बेटा! तुम एक दिन ठीक हो जाओगे। घर फिर बस जायेगा। मेरे सपने सच होंगे—मां क्या गलत कह सकती है बेटा!

—तुम गलत नहीं कह सकती हो, पर जो सत्य देह धर कर खड़ा है, उसे नकार कैसे सकती हो मां! तुम्हीं बताओ, दुनिया की कोई ताकत मेरे पांव लौटा सकती है? पक्षाघात से प्रभावित अंग कभी ठीक हो सकता है? उस दिन डाक्टर ने साफ-साफ कहा था—'एक भाग इसका शून्य ही रहेगा। फिर मुझे भरमाती क्यों हो मां?'

—भरमाती नहीं हूँ बेटे। आशा पर संसार टिका है। मैं भी आशान्वित हूँ कि कभी तुम ठीक हो जा सकते हो। घर की सारी आशा तुम पर ही तो टिकी है!

—यह सब बकवास है मां। मैं किसको क्या दे सकता हूं? प्रिया मेरे रहते विधवा नहीं है क्या? उसकी हँसी के पीछे कितना हाहाकार छिपा है—तुम नहीं जानती हो क्या? मेरी मौजूदगी उसके पूरे वजूद को घुन के समान चाट रही है। मां, मेरा सबसे बड़ा उपकार यही है कि तुम मुझे जहर दे दो—मैं सदा-सदा के लिए, रोज-रोज की मौत से लड़ने की बजाए एक बार ही छुट्टी पा लूं। बोलो न मां। तुम ऐसा करोगी न?'

यह सुन कर मां उदास हो गई—उसके सामने बेटे का भूत-वर्तमान नाच उठा। उसे समझते देर नहीं लगी कि बेटा कटु सत्य कह रहा है। वह फफक-फफक कर बेटे की मृत्यु के बारे में सोच कर रोने लगी। वह रोती रही—अश्रुधारा गाल पर बहती रही। प्रियंक कुछ देर तक अवाक् रह गया। उसे अपने कथन पर दुःख हुआ। वह पछताने लगा कि उसी के

कारण तो माँ रोने लगी। उसने अपनी विवशता के कारण उसे कितना कष्ट पहुँचाया है।

वह कुछ कहता कि मां अचानक प्रकृतिस्थ हो उठी। साड़ी के आँचल से आंसुओं को जल्दी-जल्दी पोंछ डाला, मानो उसने बहुत बड़ी गलती की है। आंसू बहा कर उसने अपने को कमजोर बनाया ही है, बेटे को भी कहीं भीतर से तोड़ दिया है। उसका चेहरा विकारहीन था। एकदम साफ, धुला-पुंछा, जैसे बादल बरसने के बाद आकाश का चेहरा होता है। उसने गला साफ कर कहा—

—बेटे, तुम्हारी साफगोई की मैं कायल हूँ। सच्चाई को नकारने की मुझमें हिम्मत नहीं है। तुम्हारी कोमल भावनाओं की रक्षा के लिए तत्काल उस पर पर्दा भी डाल सकती हूँ, पर आग को कहीं फूस में छिपा कर रखा जा सकता है ?

— मैं जिस जद्दोजहद और गलीज जिंदगी से रोज जूझ रहा हूँ, उससे मौत कितनी बेहतर है, काश तुम जान पाती ! तुम जान पाती मां ! जिस प्रियंक को जन्म देकर तुम्हारा हृदय आनंद से गद्‌गद हो गया था, उसी प्रियंक को तुम मार सकती, तो वह भी गद्‌गद हृदय सारी यातनाओं से मुक्त होकर मरता ।

—मैं वादा करती हूँ बेटे ! जब मैं स्वयं महसूस करूँगी कि अब तुम्हारी यंत्रणा की हद हो गयी, अब अधिक सहना तुम्हारे बूते के बाहर की बात है, तो तुम्हारी मुक्ति के लिए मैं कुछ करूँगी।

उसे उसकी बातों पर विश्वास नहीं हुआ। लगा वह सपना देख रहा है। यह सपना ही तो था कि कोई माँ इतना क्रांतिकारी कदम उठा सकती है।

प्रियंक को मानना पड़ा कि मां का कहना सच है और विश्वसनीय भी। उसे बड़ी शांति मिली। वह माँ को कुछ उत्तर भी नहीं दे पाया और सो गया। उसे इतनी गहरी नींद कभी नहीं आई थी। उस दिन उसने कोई स्वप्न भी नहीं देखा, जबकि उसकी रातें स्वप्नों में ही कटती थीं।

वह दिन के दस बजे उठा। दुनिया अपनी गति में चल रही थी। धूप कमरे में पसर गयी थी। बड़ी प्यारी लग रही थी। सारा कमरा अजीब आभा से जगमगा रहा था। उसने आँखें खोलीं, तो ममता का अभिवादन मिला। वह नहा-धोकर श्वेत वस्त्रों में काफी फब रही थी। यद्यपि उसने अपने को सजाने-सँवारने की कोई विशेष कोशिश नहीं की थी, परन्तु उसकी संतुलित देह-यष्टि और उसके परिधान में कुछ ऐसा तालमेल था कि वह बड़ी आकर्षक लग रही थी। प्रियंक ने रात की घटना के बारे में स्मरण किया, तो उसमें अजीब थिरकन फैल गयी, मानो कोई साधक किसी मंत्र-बल पर साधना की कई-कई मंजिलें लांघता-फांदता इष्ट तक पहुँच गया हो। इस माहौल में ममता भी उसे आशा की सजीव प्रतिमा दिख पड़ी। उसने ही मौन भंग किया—

—आज बड़ी देर तक सोये रहे प्रियंक बाबू! आज आप काफी हल्के लग रहे हैं। लगता है कोई भारी बोझ सिर से उतर गया हो। कोई खुश-खबरी आई है क्या?

—तुम्हारा अनुमान बिल्कुल सच है ममता। मेरे सिर से सचमुच ही भारी बोझ उतर गया है। बाहर से कोई खुशखबरी नहीं आई है। तुम्हीं सोचो मेरे लिए अब खुशखबरी का महत्व भी क्या रह गया? जब तक जीना—घुल-घुल कर जीना, मर-मर कर जीने का नाटक करना।

—तब फिर बोझ क्या हट गया? जरा मैं भी जानूं।

—वक्त सब बता देगा ममता। धैर्य रखने की जरूरत है। ममता ने अधिक पूछना उचित नहीं समझा। वह अपनी सीमाएँ जानती थी।

उधर देवर-भाभी दोनों अजीब ऊहापोह की स्थिति में थे। वे अपने मन को जो भी समझाएँ, पर उन्हें पूरा शक था कि कहीं उन्हें कातिल बनाने की अफवाह नहीं फैल जाए। फिर उनके मन का चोर भी उन्हें स्थिर नहीं होने देता था। अधिकारी अब इस हद तक उतर आये थे कि प्रिया और उसके देवर से उल्टा-सीधा कुछ स्वीकार कराया जाये, जिससे मामले

की छानबीन को तूल मिले। तब तक मां चुप थी, पर जब अधिकारी ने अपने मातहतों को आदेश दिया—'लाश पोस्टमार्टम के लिए भेजी जाये तथा दोनों की गतिविधि पर कड़ी निगरानी रखी जाये। न ये कहीं भागने पायें और न खुदकशी करने पायें।' मां सिंहनी की तरह अधिकारी की ओर झपटी। अधिकारी उसे कुछ पूछे कि वह स्वयं बोल पड़ी—

'प्रियंक को जहर मैंने दिया है। उसे इससे अधिक यातना में जीते हुए मैं नहीं देख सकती थी।' उसने बाथरूम से पोटाशियम साइनाइड की शीशी लाकर दिखाई। फिर वह कहने लगी—

'प्रिया एकदम निर्दोष है। दुनिया उसे कुलटा कहती है, कलंकिनी कहती है। इसलिए कि उसने अपने जीवन के सुख अरमानों की होली प्रियंक के साथ न जला कर देवर को अपना बना लिया है। मैं इसे शुरू से देख रही थी—दो-दो जिंदगियां उजड़ने की अपेक्षा मैंने एक का उजड़ना ही वाजिब समझा।' अधिकारी ने कहा—'आप जो भी कहें मां जी, मुझे विश्वास नहीं होता।'

—आपको विश्वास करना होगा। मेरी बहू कुलटा नहीं है, हत्यारिन नहीं। वह देवी है। सचमुच वह देवी है। उसने पूरी निष्ठा से देवर को प्यार किया है। दोनों के प्रेम की पवित्र ज्वाला प्रिया के पेट में जल रही है। आप देख लें प्रिया गर्भवती है। आप ही सोच लें, मेरा बेटा जीते जी इस सत्य को सहन कर सकता? वैसे ही उसकी जिंदगी व्यर्थ थी, उस पर यह मानसिक आघात! सदमे से वह मर जाता या घुट-घुट कर पत्नी, छोटे भाई के प्रति घृणा का बोझ सिर पर लिए मरता—उससे बेहतर कि मैंने उसे मार डाला। मैंने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली—उसकी आत्मा सुखी होगी।'

अधिकारी को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ कि वह यह सब सच सुन रहा है या दिवा स्वप्न देख रहा है।

●

उदासी के बादल

चार बजे का समय था। राजू खेल में शरीक ही हुआ था कि अचानक वह चीख उठा। उसके पैर में एक कांटी चुभ गई थी। उसे बमुश्किल खींचा जा सका। धीरे-धीरे खून रिसने लगा था। उसने खेलना छोड़ अपने घर की राह ली। वह ड्राइंग रूम से होता हुआ सीधे अपनी मम्मी के कमरे में घुस गया। वहाँ रमेश अंकल भी था। राजू उन्हें देख ठिठक गया। उसे अजीब-सा लगा। लीला दूसरी ओर देखने लगी। वह राजू से नजर नहीं मिला पाई। वह कुछ कहे कि रमेश ही बोल उठा—'क्या बात है राजू बेटे ! आज खेल में तुम्हारा मन नहीं लगा ?' वह कराहते हुए बोला—'अंकल, मेरे पैर में एक कांटी चुभ गई है। देखते नहीं हैं उससे खून निकल रहा है ?' रमेश खून निकलता देखकर और भी सदय हो उठा—'क्या हो गया मेरे बेटे को ! आह ! कितना दर्द होता होगा।' उसने रुई से पोंछकर वहाँ डेटाल लगाया और उसके हाथ में चाकलेट का एक पैकेट थमा दिया।

अब तक उसकी मम्मी चुप थी। राजू को अजीब लग रहा था। वह

उसे देखे का रहा था, शायद कुछ बोले। रह-रह कर घाव में टीस उठ रही थी। कुछ दर्द और कुछ मम्मी के रूक्ष व्यवहार के कारण वह रो पड़ा। रोता रहा। रमेश ने उसे चुप कराने की कोशिशें कीं, पर सब बेकार। आखिर लीला उसे दूसरे कमरे में ले गयी। राजू को गोद में लिटाया, उसके बालों पर हाथ फेरना शुरू किया। बीच-बीच में प्यार भरे सम्बोधन देती जाती—'मेरा प्यारा बेटा है राजू। कितना अच्छा बेटा है। चुप हो जाओ बेटे। मैं तुम्हें आज ढेर सारे खिलौने दूँगी। तुम्हें अंकल घुमाने ले जाएँगे।....आह। अब दर्द तो नहीं है राजू !'

राजू समझ नहीं पाया कि रह-रह कर अंकल का नाम क्यों आ रहा है। वह क्या इसे घुमा नहीं सकती है ? इसे चाकलेट नहीं दे सकती है ? पापा से कह कर खिलौने नहीं मँगा दे सकती है ? फिर अंकल की क्या जरूरत ! पता नहीं, नहीं चाहने पर भी मुझे खेल के लिए वह बाहर क्यों भेज देता है। कल की बात है। स्कूल से लौटने में दो बज गए। खाते-पीते तीन। वह मुँह-हाथ धोकर उठा ही था कि अंकल कुछ टाफियाँ थमाते हुए बोला—'कल तो तुम्हें छुट्टी है राजू ! जाओ, खूब खेलो। शाम तक जी भर खेलो।'

वह नहीं जाना चाहता था। उसे बहुत-सा होम टास्क मिला था। दो दिनों में भी वह पूरा होने वाला नहीं था। उसने प्रतिवाद किया—'बहुत थक गया हूँ मम्मी। फिर स्कूल से काम भी बहुत मिला है। कुछ मदद कर दो न मम्मी।'

'थक कर स्कूल से आए हो बेटे। खेलने से जी बदल जाएगा। फिर रात को होम टास्क पूरा करने में मन भी लगेगा। मैं भी मदद करूँगी बेटे। खेल आओ राजू। पप्पू आदि तुम्हारी राह देख रहे होंगे।'

—'पप्पू, बब्लू आदि भी होम टास्क से परेशान हैं। तीन दिनों तक खेलना बन्द।'

आखिर लीला ने उसे पप्पू के घर होम टास्क पूरा करने भेज दिया था ! वह देख रहा था कि उसे किसी बहाने बराबर बाहर भेज दिया जाता

है। पापा व्यापार के सिलसिले में अक्सर बाहर रहते हैं। जब पापा घर रहते हैं, तो रमेश अंकल गायब। कभी आए भी तो ड्राइंग रूम में ही कुछ देर पापा से बात कर चल देते हैं। चाय-नाश्ता देने के बहाने मम्मी अवश्य झाँक जाती है। कितने उत्साह से अंकल पूछते हैं—'अच्छी हैं न भाभी ?' उसका चेहरा खिले गुलाब-सा हो जाता है।

राजू फिर कराह उठा—लगा दर्द की एक लहर उसके पूरे शरीर में फैल गई है। लीला ने फिर सहलाना शुरू किया—लोरी की धुन में कुछ गाने लगी। राजू तत्काल चुप हो गया। उसने उसकी मिट्टी ले ली। राजू इससे खुश होने के बजाय थोड़ा गम्भीर हो गया। वह उसे विटिर-विटिर देखता रहा। उसके मन में कुछ उमड़ता रहा। डर रहा था कि पूछने पर वह डाँट नहीं बैठे। लीला प्यार उड़ेलती रही। बीच-बीच में बोलती जाती —'रमेश अंकल कितने अच्छे हैं बेटे ! तुम्हें कितना प्यार करते हैं। रोज तुम्हारे बारे में पूछते हैं। है न राजू ?'

राजू सोचने लगा, जो सवाल उसके गले में अटक गया है, उसे निकाले कैसे ! उसे पूछे, तो कैसे ! उसने अनेक कोशिशों से राजू को प्रसन्न करना चाहा। फिर एक बार माथा सहला कर चूम लिया। राजू को लगा कि मम्मी खुश है, वह आश्वस्त हो उठा और कुछ सोच कर निश्चय कर बैठा —'आज पूछेगा जरूर' और उसके गले से झूलते हुए कुछ जिज्ञासा और कुछ संकोच से पूछ बैठा—'मम्मी, तुम्हें रमेश अंकल मिट्टी लेते हैं ?'

लगा यह वाक्य नहीं, वरन् कोई विष का बुझा बाण है, जिसके आघात से तिलमिला कर गिर जाना स्वाभाविक है। आहत हरिणी के समान वह शिकारी पर ही झपट पड़ी। कुछ कहने के बजाय चटाक ! चटाक !! चटाक !!! तीन थप्पड़ उसके फूल के समान कोमल गालों पर लगा दिए। गाल अंगारे के समान दहकने लगे, जिस पर उसकी उँगलियों के निशान साफ-साफ उभर आए थे।

राजू इस अप्रत्याशित वार को यों झेल गया, जैसे कुछ हुआ ही नहीं हो, इसका उसे पूर्व अभ्यास हो। वह रो भी नहीं सका, एकदम स्तब्ध हो

गया, जड़वत् । आँखों में शून्यता तिर आई । उन सूनी आँखों से लीला को अपलक देख रहा था, मानो बताना चाहता हो—'तुम्हारे मारने की मुझे परवाह नहीं—मैं अपने रास्ते ठीक चल रहा हूँ ।' चेहरा भावहीन था, संवाद की कोई संभावना नहीं थी। लीला ने ही मौन भंग किया था—'चोट तो नहीं आई बेटे ! हाय-हाय मैं कैसी निर्दयी हो गई। अपने फूल से कोमल बच्चे को मार बैठी ।' यह कह कर उसके गाल सहलाने लगी—माथे पर हाथ फेरने लगी । राजू सोच नहीं पाया कि मम्मी के किस व्यवहार को सही माने । उसका लाड़-प्यार सही है या मार ! उसके भीतर मर्मभेदी रोदन फफक-फफक कर फूल रहा था, पर उसने जबरन उसे दबा दिया और निश्चल मौन पड़ा रहा, मानो वह उसके प्यार से एकदम बेखबर हो। लीला ने ही कहना शुरू किया—'अच्छे लड़के ऐसा नहीं कहते बेटे ।' राजू टुकुर-टुकुर ताकता रहा । उसकी समझ में यह बात नहीं आ रही थी कि उसे अपने घाव की याद क्यों नहीं आ रही है । मम्मी बेरहमी से मार कर फिर मुझे अच्छे बेटे कह रही है या वैसा बनने की नसीहत दे रही है । अंकल के मिट्टी लेने की बात मेरे मुंह से सुन कर वह नाराज क्यों हो उठी ? क्या बिगाड़ा मैंने उसका यह कह कर ? अंकल बहुत अच्छे हैं, तो क्या प्यार से मम्मी को मिट्टी भी नहीं ले सकते ?

वह राजू की पीठ थपथपाकर अपने कमरे में चली गई, जहाँ रमेश अंकल उसका इंतजार कर रहा था । राजू सोचने लगा—'वैसे तो वह उसे वक्त-बेवक्त मारती ही रहती है, पर सबके लिए वह कोई न कोई वजह ढूंढ़ लेती है । मार खाने के अधिक मौके तब आते हैं, जब अंकल के साथ उसकी बातचीत में खलल डालता हूँ। उस दिन मेरी पेंसिल उसी कमरे में थी । मैं दौड़ता घुस गया और उसने पीट दिया । कारण बताया—'अंकल थके थे राजू । तुमने नाहक आकर उनकी नींद हराम की ।' जब वह कमरे में घुसा था, वह कुछ कह रही थी, फिर अंकल की नींद कैसे खराब हो गई ?

कभी उसके विवश करने पर खेलने न जाओ, कभी निश्चित समय के

पहले खेल कर लौट आओ, कभी अंकल के पास जाती माँ को रोक कर बातचीत करने लगो, किसी बात के लिए मचल जाओ, इन सभी हालतों में मार पड़ना स्वाभाविक है। मुझे पिटने का उतना गम नहीं है, जितना अकारण पिटने से गुस्सा है। खैर, मैंने माना कि यह पूछना उचित नहीं है, पर इसके चलते मार कर अंकल की बड़ाई का क्या तुक है? अच्छे बेटों का गुण क्या यही है कि वह अंकल की प्रशंसा करे और माँ से सुनकर खुश हुआ करे, चाहे इच्छा नहीं भी हो।

पापा की तारीफ तो नहीं होती है, जब वे इस घर के लिए कितना खटते हैं। वे कहीं से लौटकर कितने थक जाते हैं। लगता है पापा एकदम बूढ़े हो गए हैं। बात-बात पर हाँफने लगते हैं। मम्मी उन्हें आराम दे, देख-भाल करे, इसके बजाए घर की कोई बात लेकर उनसे उलझ जाती है। मैं कुछ बोलूँ, जो शायद माँ के विरोध में हो, इसके पहले वह मेरी शिकायत कर बैठती है। लेकिन पापा ने कभी मुझे मारा नहीं—हल्की डाँट कभी-कभी खानी पड़ती है। डाँट कर पापा कितने उदास हो जाते हैं। मुझे फिर इतना प्यार देते हैं कि मैं एकदम भूल जाऊँ—पापा कभी डाँटते भी हैं।

लीला राजू को भाग्य पर छोड़कर अपने कमरे में चली गई। वह उसे सूनी-आँखों से जाते देखता रहा। वह अपने कमरे में जाकर बिखरी किताबें ठीक करने लगा। कुछ ही देर के बाद रमेश और लीला की खिलखिलाहट गूँजने लगी। उसका मन हुआ कि वह जाकर रमेश का मुँह नोच ले और जान टीचर के रोब में हुक्म दे—'पहले सौ बार कान पकड़ कर उठो-बैठो फिर मुर्गा बने रहो। टिफिन के बाद मैं देखूंगा तुम कितने बदमाश हो।'

उस रात उसने खाना भी नहीं खाया। लीला ने महज औपचारिकता-वश एक बार पूछ लिया—'खाना खा लो राजू। मैं अधिक देर तुम्हारे लिए बैठ नहीं सकती।' राजू न कुछ बोला और न उठ कर ही गया। उसका विद्रोही मन पापा की प्रतीक्षा कर रहा था। शायद वह अपनी बात

कह सके—उनका विश्वास जीत सके। उसे पूरा विश्वास था कि वे उसकी बात बहुत ध्यान से सुनेंगे। उसके पापा बहुत अच्छे हैं। मम्मी से कई गुना अच्छे।

लीला अपने कमरे में सो गई और राजू ड्राइंग रूम में अपनी किताबें, कामिक्स देखता रह गया। उसके कामिक्स का हीरो भयंकर शैतान था। बिना कारण लोगों को मारता-पीटता था। उसे मम्मी की याद आने लगी—'वही कौन कारण बताकर सजा देती है। एकदम तानाशाह है। उस दिन टीचर जी चंगेज खाँ की कहानी बता रहे थे। कितना डर गया था मैं।' उसे नींद आ ही नहीं रही थी। आंखों में रात काटने का मंसूबा बांधे वह जाग रहा था। करीब ग्यारह बजे का समय रहा होगा। कालबेल दनदना उठा। राजू पता लगाए कि कौन है, तब तक आवाज गूँजी—'लीला, ओ लीला! दरवाजा खोलो।' पापा की आवाज सुनकर राजू झटपट सामने आया और बड़ी उदासी से बोला—'हैलो पापा! आप आ गए? खोल रहा हूँ।' पापा को ऐसा अहसास हुआ कि राजू के चेहरे पर उदासी की छाया साफ-साफ दिखाई दे रही है।

वह जल्दी से कपड़े बदल कर राजू के पास बैठ गया—'आज दिन भर सोए रहे क्या राजू? आंखों से नींद कहां गायब हो गई है?'

—'नहीं पापा, स्कूल से आकर होम टास्क पूरा किया और अभी सोने ही जा रहा था कि आप आ गए।'

राजू ने सोचा उसकी उदासी का कारण पापा जान ही जाएँ तो क्या होगा। मुमकिन है मम्मी नमक-मिर्च लगाकर मुझे ही दोषी ठहरा दे। इससे क्या होगा? मार ही तो खाऊँगा—और क्या होगा? नहीं, हर्गिज नहीं, पापा मेरी बात जानकर कुछ करेंगे जरूर। कुछ न करें—उन्हें पता तो चल जाएगा कि उनका प्यारा इकलौता बेटा राजू कैसी जिन्दगी जी रहा है।

—'नहीं बेटा! सचमुच बताओ तुम उदास क्यों हो? किसी ने मारा है तुम्हें राजू?' उनका स्वर अपेक्षाकृत कोमल और हृदय को छूने वाला

था। हवा का एक शीतल स्पर्श बादल को बरसाने के लिए विवश कर देता है। राजू के धैर्य का बांध टूट गया और वह फूट-फूट कर रोने लगा।

पापा ने उसे अपनी गोद में बैठा लिया और माथा सहलाते हुए बोले—'रोओ मत राजू। सच कह दो बेटा। तुम्हें किसने मारा है?' उसने हिचकी लेते हुए बताया—'पापा....मुझे....मम्मी ने मारा....है।'—'क्यों मारा बेटे! ठीक-ठीक बता दो मुझे, फिर मैं देखता हूं।' राजू के मन का भय उस समय भाग खड़ा हुआ। उसे लगा कि पापा उसके जख्मों पर फाहा रख सकते हैं। शायद असलियत जानकर मम्मी को कुछ कहें। उसने जी कड़ा कर पापा को सब कुछ सच-सच बता दिया।

जिस प्रकार मेघों के बीच अचानक बिजली चमक उठती है, उसी प्रकार थकान और परेशानी से उनका सारा चेहरा तमतमा कर लाल हो उठा। उनका भीतर का परशुराम अपनी कुठार लेकर सामने आ गया। उन्होंने बड़ी कर्कश आवाज में पुकारा—'लीला! लीला ऽऽऽ।' तब तक उन्हें होश नहीं था। वह हड़बड़ाती-भागती आई। उसे सामने देखकर उनका क्रोध सातवें आसमान पर चढ़ गया—

—'तुम्हारी यह हिमाकत! इतना नीचे गिर गई तुम! छिः-छिः, हट जाओ मेरे सामने से। तुम्हारी सूरत से मुझे घृणा हो गई है।'

—'यह क्या बेतुकी हरकत है। आखिर हुआ क्या है? कुछ बताओगे या ऐसे ही जलील करते रहोगे।'

राजू एक कोने में सहमा-सहमा सब सुन रहा था। उसे लगा कि मम्मी की आंखें उसे पी लेना चाहती हैं। वह डर गया, फिर साहस किया —अब फिर क्या होना है।

—तुम्हें उस कमीने बेकार रमेश से इश्क लड़ाते शर्म नहीं आती। इसीलिए तुमने एम० ए० तक पढ़ा था। चुल्लू भर पानी में डूब मर।

वह राजू की ओर बिजली की तेजी से मुखातिब हुई—इसी पिल्ले ने यह बवाल उठाया है—चटाक! चटाक!! चटाक!!! जब तक पापा

बचाएँ, राजू पिट चुका था। मां सिंहनी-सी दहाड़ती अपने कमरे में चली गई थी। पापा राजू को सहलाते हुए बोले—

'अच्छे लड़के ऐसा नहीं कहते बेटे।' वह सोचने लगा—'एक ओर झूठ बोलने पर मास्टर जी, पापा, मम्मी सब मारने लगते हैं। सब का एक ही कहना है—'राजू, तुम कभी झूठ मत बोलना। सच बोलना, चाहे जो भी हो। पर यह कैसा सच है कि कोई सुनना नहीं चाहता, सब इससे दूर भागना चाहते हैं। न कोई यही कहता है—यह झूठ है, राजू, तुम जो कहते हो, सरासर झूठ है। न इसे सच ही मानने को तैयार हैं। सब एक ही नारा दे रहे हैं—'अच्छे लड़के ऐसा नहीं कहते।' वह सोच नहीं पाता कि अच्छा लड़का क्या कहे, सच को झूठ क्यों कर बनाया जाए।

जीती मक्खी देखकर निगली जा सकती है क्या? जिस सच को वह रोज-रोज खुली आंखों से देख रहा है—उसे झुठलाना उसके वश की बात नहीं है। उसे गले के नीचे वह उतार नहीं पाता है। क्या पता, पापा भी इसे झुठलाना चाहते हों? ऐसा नहीं है, तो उनके सामने मम्मी को मुझे मारने का साहस कैसे हुआ? वह उससे मुझे बचा पाते और उसे सजा देते तो मैं खुश होता। कौन जानता है, पापा मम्मी का विरोध नहीं कर सकते या किसी कारण से करना नहीं चाहते? उदासी का बादल उसके पूरे वजूद को ढँक लेता है।

●

आखिरी खत

प्रिय सुधा,

वर्षों की जुदाई मुझे तुमसे अलगा नहीं सकी है। लाख चाहता हूँ, तुम्हारी यादों को पुराने वस्त्रों के समान त्याग कर नया धारण कर लूँ। पुराने रिश्तों की धूल से नए को गंदा नहीं करूँ। पर क्या है उस धूल में ? वह व्रजरज है क्या, जिसे सिर से लगाकर मैं सुकून महसूस करता हूँ। अब रिश्ते कहाँ—उनकी लाश है, जिसके प्रति तुम लापरवाह और तटस्थ हो सकती हो, पर मैं अभी भी उसे सड़ने से बचा रहा हूँ। कहीं आशा की नन्हीं किरण टिमटिमाती है। कोई दैवीय चमत्कार हो जाए, लाश में स्पन्दन का संगीत बज उठे। पर क्या यह सब मेरी कल्पना है या मेरा प्रलाप ? तुम सही-सही जानती हो। यह सब अलग बात है कि तुम मुझे बताना नहीं चाहती हो। खैर, कोई बात नहीं।

तुमसे विवाह हुए आज बीस वर्ष बीत गए। वक्त का कितना बड़ा अन्तराल हम लोग भर पाए, पर रिक्तता अभी भी शेष है। लगता है मेरे

प्रति तुम्हारे लगाव की डोर कट गई है। तुमने अब तक मूक समझौते के सहारे मेरा साथ निभाया है। उसमें तुमने बार-बार अपनी कुर्बानी दी है। अपने को गलाया है, अपने से जूझती रही हो। मैं ऐसा नहीं हूँ कि इसे समझ नहीं पाता, पर इतनी गलती अवश्य कर पाया हूँ कि तुम्हारे झूठे अहं को सहलाने में असमर्थ रहा हूँ। मेरी सीमा है। मैं नाटक नहीं कर सकता। मैं मुखौटा नहीं लगा सकता। मन के तूफान को जबरन दबाकर शारदीय आकाश की निरभ्रता कायम नहीं कर सकता हूँ। कुदाल-कुदाल है, यह कहने की हिम्मत ही मेरी शक्ति है और मेरी त्रासदी का कारण भी। काश, तुम जान पाती कि तुम्हारे गलत रवैये को मैंने कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। तुमने बहुत चाहा कि तुम्हारी व्यवस्था का मैं एक पुर्जा बन जाऊँ। यही मेरी नियति बन जाए। मैंने बराबर इसका विरोध किया।

आक्रोश का लावा मुझमें फूटता रहा और समय-समय पर उसकी अभिव्यक्ति भी होती रही। तुम्हें मैं जी भर चाहता था। इतना ही लगाव था कि सारी सृष्टि में मुझे तुम सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी लगती थी। तुम में मुझे अवगुण ही नजर नहीं आता था। सम्भव है, मेरी आत्मीयता की आँच में दोष पिघल गए हों या उस ओर मेरा ध्यान ही नहीं गया हो। देह के धरातल पर मैं तुम्हें पूरा भोगना चाहता था। आटे के समान गूंथ देना चाहता था। मेरे प्रेम मनुहार से तुममें कामनाएँ जोर मारती थीं—तुम समर्पण करना चाहती थी, पर ऐन मौके पर तुम्हारा अहं आड़े आ जाता था। तुम्हें लगता था कि बस, पुरुष की बाँहों में स्वेच्छा से क्यों पड़ जाऊँ और तुम बड़बड़ाने लगती थी "तुम पशु बन जाते हो....ओह, इतने एग्रेसिव....तुम्हें शर्म नहीं आती....दिन भर थक चूर होकर आई हूँ। कुछ क्षण आराम तो करने देते....।" फिर प्रतिशोध का हिंसात्मक भाव। मेरे जख्मों को कुरेदने की चेष्टा "...तुम ऐसे उजड्ड हो...तुम्हें मैंने बनाया है। वरना कहीं क्लर्की कर सड़ते रहते।"

मुझे लगता था कि मैं बर्फ हो गया हूँ। मैं टूट-टूट जाता था। मेरा पुरुष मेरे ही सामने चिंदी-चिंदी होकर हवा में बिखर जाता था। फिर

बहुत दिनों तक तुमसे प्रेम निवेदन की हिम्मत नहीं जुटा पाता था। भीतर ही भीतर एक अहसास पनपने लगता था—कहीं मैं नपुंसक तो नहीं हो जाऊँगा।

घर-गृहस्थी की व्यवस्था को सही और ठोस आधार देना तुम्हारा काम था। मैंने इस मामले में कभी न विरोध प्रकट किया और न असहयोग ही दिया। जो भी कमाता था तुम्हारे पास रख देता था, फिर कभी एक पैसा भी अपने खर्च के लिए नहीं लेता था। सब ठीक-ठाक था। मैं ऐन मौके पर तुम्हारी सराहना करने से बाज नहीं आता पर इसमें तुम्हें संतोष नहीं मिलता। तुम्हें लगता कि तुम्हारा नौकरी करना और उस पैसे से गृहस्थी की गाड़ी खींचने में सहयोग देना अधिक अर्थवान है। मेरे आर्थिक सहयोग की कोई अहमियत नहीं है। मसलन बीच-बीच में तुम्हारी बेवक्त की शहनाई मुझे अरुचिकर ही नहीं, तुम्हारे प्रति घृणा उत्पन्न करती थी। उस पर तुम्हारी फटकार "...अलग रहकर देख लो। मुझसे क्यों सटे हो? देखो, मेरा खरीदा हुआ बेडशीट। कितना शानदार है! कभी डिसकलर होने का सवाल ही नहीं है। एक तुम्हारा लाया हुआ था—शोलापुरी। दरी के समान मोटा और रंग घुलने वाला! तुम्हारा जंगलीपन कभी नहीं जाएगा।"

यदि मैं तुम्हारी पाककला की प्रशंसा करूँ, डाइनिंग टेबिल की सजावट को सराहूँ, शुक्रिया या धन्यवाद की जगह उत्तर आता "तुम्हें क्या, घास-भूसा जो भी मिला, पेट का गड्ढा भर लिया! पेट भरना तो पशु भी जानते हैं।" इतना सुनकर छप्पन प्रकार के भोग का स्वाद कौन लेना चाहेगा? मैं किसी प्रकार निगल लेता था—फिर प्रतिवाद इसलिए नहीं करता था कि कहीं तुम भड़ककर रूठ न जाओ और तुम्हें उपवास न करना पड़े। तुम्हारी सेहत और परेशानी के कारण मैं चुप रह जाता। मेरी चुप्पी तुम्हारी विजय की दुहाई देती और तुम्हारा विजय-अभियान और तेज हो जाता।

मनुष्य अपनी विजय और खुशी पत्नी के समक्ष प्रकट करता है और

उससे उचित साझेदारी पाकर गद्गद हो जाता है। जब भी मैंने पुरस्कार पाया, प्रतियोगिता में टॉप किया, डिबेट में देश का प्रतिनिधित्व कर शील्ड जीती—न तुमसे प्रशंसात्मक उद्गार निकालते बना और न तुमने मुझे धन्यवाद ही दिया। हां, मेरी उपलब्धियों के मुकाबले और लोगों की करामात गिनाने में तुमने देर नहीं की। इसका मैंने सीधा-सा अर्थ निकाला कि मेरी ये उपलब्धियां नजर-अन्दाज करने लायक हैं। तुम्हारे लिए इनकी कोई अहमियत नहीं है। इससे मेरे मन में कीड़ा कुलबुलाने लगा कि आखिर तुम्हारा स्वप्न-पुरुष कौन सा है। इससे मेरी आस्था की लौ थर-थर करने लगती। मैं अव्यवस्थित सा हो जाता, पर कुछ सोचकर मन को समझा पाता। इसे तुम्हारी नासमझी समझकर समस्या से दर-किनार हो जाना मेरी आदत बनती गई।

इसे मैं क्या कहूँ—आज तक समझ नहीं पाता। खेत में पड़ी मिट्टी गूंध-गांधकर मूर्ति बनाई गई। उसे आवें में पकाकर रंग-रोगन कर ऐसा बना दिया गया कि मूर्ति वाचाल हो उठी। इतनी मुखर और रूपगर्विता कि मूर्तिकार के अस्तित्व की उसने कल्पना भी नहीं की। वह उसे अपनी सृष्टि समझकर गर्व से फूल उठता है, पर मूर्ति अपने में लीन है। ऐसी मूर्ति किसी की पत्नी हो और वह पति रूपी मूर्तिकार की उपेक्षा का हर संभव प्रयास करे, तो क्या गुजर सकती है? कौन अपनी सृष्टि को मिटाना चाहेगा, उसे मिटते देखकर उसे दुःख होगा। ऐसी स्थिति से गुजरना कितना खतरनाक होता है।

याद है तुम्हें सुहागरात का वह वाक्य। रात जवानी की ओर सरक रही थी। वातावरण मादकता से नहा उठा था। दीवाल पर शिव-पार्वती की जोड़ी अद्र्ध-निमीलित आँखों से हमारी साक्षी थी। तुम स्वर्ग की अप्सरा लग रही थी। एक तो बला की सुन्दरी, उस पर सुघड़ हाथों रूप-शृंगार। लगता था सौन्दर्य देह धारण कर खड़ा हो गया हो। तुमने मेरी बाँहों में झूलते हुए कहा था—"सौरभ, तुम्हें पाकर मैं निहाल हो गई। मेरा स्वप्न-पुरुष भी क्या इससे उत्तम हो सकता है! तुमने मेरे स्वप्न को

भी मात कर दिया।" यह सुनकर मैं गद्-गद हो गया था—मुझे अपने व्यक्तित्व पर नाज हुआ था और तुम्हें पाकर अभिमान जाग उठा था। फिर तुमने किंचित् सकुचाते हुए एक निरीह और अनाथा बालिका के समान मुझसे प्रार्थना की थी—"इतने बड़े विद्वान् की पत्नी बनने की खुशी को मैं समेट नहीं पाती, सौरभ, पर एक बात का मुझे दुःख है कि मेरी इस प्रारम्भिक शिक्षा से तुम्हारे साथ तालमेल कैसे बैठेगा? अन्य विदुषी पत्नियों (जो तुम्हारे मित्रों की होंगी) के सामने मुझे देखकर तुममें हीनता न पनपने लगे। तुम्हें अपने बौनेपन का अहसास सालने न लगे। इसलिये आज से तुम पति ही नहीं, गुरु हुए। मैं एक भक्त शिष्या की तरह तुम्हारे मार्ग पर चलूँगी।"

मैं तुम्हें एकटक देखता रहा था! मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था कि तुममें समझदारी का इतना विकास कैसे हो गया। मैंने तुम्हें प्यार से चूमा था, जी भर सहलाया था और मन ही मन प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हें देश की सर्वोच्च उपाधि दिलाकर रहूँगा।

चला फिर संघर्षों का दौर, यातनाओं का अन्तहीन सिलसिला। मेरी उस समय की साधारण नौकरी। कम आय। तीन साल में अमित और रीना का जन्म। ढेर सा खर्च। उस पर तुम्हारी पढ़ाई। मैंने दिन को दिन नहीं समझा, पर तुम्हारा वह प्रेम निवेदन मेरा जीवनदीप बन जाता था। मैं और भी हिम्मत से जुट जाता। परिणाम तुम्हारे सामने है। आज तुम एम० ए०, पी-एच० डी० हो—तुम्हारा नाम विद्वानों में गिना जाता है। लोग तुमसे इंटरव्यू के लिए तरसते हैं और मैं तरसता हूँ तुममें विवेक जगाने के लिए।

मुझे एकबारगी अपने जीवन से निकालकर दूर फेंकना तुम्हारे लिए मुमकिन नहीं हुआ। शायद इसके लिए तुम्हारा दिल गवाही नहीं देता होगा। मेरे समाज में रहकर ऐसा करना तुम्हारे लिए कठिन था। तुमने ऐसा उपाय निकाला कि गुड़ देने से ही मारा जाए, तो फिर विष की क्या जरूरत। तुम्हारा अहं आकाश की ऊँचाई नापने लगा, जिसके तहत मुझे

सहज भाव से स्वीकारना और पति-पत्नी का नाता बनाए रखना भारी लगने लगा। तुम्हारे बात-बात पर मुझे जलील करने, लोगों के सामने मेरे दोष गिना कर अपने को श्रेष्ठ बनाने की कोशिश से मैं आक्रामक होने लगा। मुझे देशकाल की परवाह नहीं रहती और जहाँ तुम अपनी श्रेष्ठता का बखान कर सिक्का जमाना चाहती थी, वहाँ मैं विद्रोह कर उठता—"निकल जा यहाँ से। बड़ी आई मुझे हेठा दिखानेवाली। बाप के घर से कितना पढ़कर आई थी! गाल बजाती रहती है।" इतने से ही मेरा क्रोध शांत नहीं होता था, मैं मार-पीट पर उतर आना चाहता था। परन्तु जगहँसाई और तुम्हारी बेवकूफी के कारण मैं अपने को बमुश्किल रोक पाता।

मेरे मन में अंतर्द्वन्द्वों का तूफान चलता। तुम्हें मिटा देने का कुभाव जन्म लेता, पर मैं अवश हो जाता। मेरी सन्तान की माँ, मेरे प्रेम-प्यार का केन्द्र, मेरे प्रयासों से बनी सजी-सँवरी सुधा, मेरा कोपभाजन होकर क्यों कष्ट भोगेगी? इसी भावना की विजय होती। तुम्हें अनायास ही अभयदान मिलता गया। इसका तुमने नाजायज फायदा उठाया। तुम्हें ऐसा लगने लगा कि मेरा अस्तित्व छिन्न-भिन्न हो गया है। मैं बौना बन गया हूँ। तुम्हारी विराटता का स्पर्श क्या, अनुभव भी नहीं कर पाता। मसलन तुम्हारी चिड़चिड़ाहट और खीझ निकालने की आदत जोर पकड़ने लगी। इसका कोई आलंबन नहीं मिला, तो बच्चों का बहाना बनाया। उस दिन अमित गणित में खराब अंक लेकर लौटा, तुमने सिर पर आसमान उठा लिया। मेरी मूर्खता, पिछड़ेपन की ऐसी खिल्ली उड़ाई कि ऐसा लगा कि वह खराब अंक मैंने ही पाया था, मेरे बेटे अमित ने नहीं।

मौके-बे-मौके बच्चों के सामने मेरा निंदा-पुराण चलता, जो मुझे नागवार लगता। खासकर इसे मैं बच्चों के भविष्य के साथ खिलवाड़ समझता था। फिर भी चुप रह जाता था। बच्चों के मन में तुम्हारे प्रति ऊँचे खयाल भरता था और समझाता था कि 'तुम्हारी मम्मी महान् है। यह सब मजाक में कहती है। भूल से ही वह मुझे छोटा नहीं बना सकती।'

बच्चे कुछ आश्चर्य और कुछ अविश्वास से मेरी आँखों में झाँकते। मैं उनसे आँखें नहीं मिला पाता। नजर चुरा लेता या अन्यत्र ताकने लगता। एक दिन रीना ने गले में झूलते हुए कहा—"पापा होकर भी आप झूठ बोलते हैं। मम्मी आपकी निंदा करे और आप तारीफ करें। मैं बर्दाश्त नहीं कर सकती इसे पापा।"

अच्छा हुआ, तुमने अपना तबादला दूसरे शहर में करा लिया। तलाक न होकर भी तलाकशुदा का जीवन बिताना प्रारंभ किया। तुम्हारी यही नियति है। मनुष्य अपने ही जाल में फँसता है और फिर उससे भाग निकलने की राह नहीं मिलती। मुझे तुमसे कोई आशा, संभावना नहीं है। बस, इतनी ही आरजू है कि अपने बच्चों में ऊँचे संस्कार भरना। मेरे बारे में उन्हें इतना विषाक्त मत कर देना कि वह मुझसे घृणा करने लगें, मुझे क्षमा नहीं कर पाएँ। संतान का मोह विवश कर देता है। न तुमसे संबंध-विच्छेद की मैं कोई कानूनी कार्यवाही करूँगा और न उसे स्थापित करने का जीते जी प्रयत्न ही। हाँ, इतने दिन एक साथ रहने के कारण इतनी सलाह अवश्य दूँगा कि कभी फिर प्रेम-विवाह में प्रवेश करना चाहो तो एकदम नए सिरे से, एकदम धो-पोंछकर। ऐसा नहीं हो कि हम जैसों की बनाई गृहस्थी को वह डँसकर असमय बंजर बना दे। इतना ध्यान रख सको, तो आभार मानूंगा।

तुम्हारा वही, जो कभी पति था

—सौरभ

●

नपुंसक

उस दिन अपनी क्लास लेकर मैं लौट रहा था कि मृदुला मिल गई। उसने मुझे सहज भाव से नमस्ते किया। मेरे मन-मन के हाथ मुश्किल-से उठ पाये। मैं आगे बढ़ गया। उसके बारे में ही सोचने लगा। उसका सौंदर्य और तेज मुझे भीतर से आतंकित कर देता था। मैं उतना भयभीत उस समय भी नहीं हुआ था, जब मुझे हैड ने विभाग से निकाल देने की धमकी दी थी। मैंने एक लड़की को जानबूझकर छेड़ दिया था। आशा के विपरीत उसने नमक-मिर्च लगाकर मेरी शिकायत कर दी थी। मैं ऐसी स्थिति के लिए कतई तैयार नहीं था, पर हैड की धमकी मुझे जरा भी भयभीत नहीं कर पाई थी। मैं मुस्कुराता हुआ निकला था, और जेल से छूटे अपराधी की तरह और भी दुस्साहसी हो गया था।

कॉलेज के दिनों को यादकर मेरा मन अभी भी रंगीनियों की दुनिया में सैर करने लगता है। वहाँ कुछ मीठी यादें हैं, थ्रिल देने वाली घटनाएं हैं, और सर्वोपरि है मेरा यायावर मन, जो कभी नहीं टिक पाता था। इस

अस्थिरता ने जहाँ मुझे जीवन के अनेक अनुभव दिए, वहाँ बहुत कुछ खोया भी। इतने दिनों के बाद क्या खोया, क्या पाया, हिसाब करना मुश्किल है। पर यादों से पिंड छुड़ाना कठिन लगता है।

अपने विषय में फर्स्ट क्लास लाकर मैं वहीं अस्थायी प्रोफेसर बन गया था। मेरे पुराने हैड रिटायर हो गए थे और नये का मुझ पर अपार स्नेह था। अपने अमीर बाप का इकलौता बेटा। माता-पिता की आँखों का तारा—उनके स्वप्नों का केन्द्र-बिंदु। जब तक मैं एम० ए० में पढ़ता रहा, पिताजी प्रतिमाह पाँच सौ रुपये नियमित रूप से भेजते रहे। उन्होंने कभी मुझसे हिसाब नहीं माँगा, जब कि अन्य करोड़पति के बेटों को सोचना पड़ता था कि वे हिसाब किस प्रकार देंगे। शराब-कबाब का हिसाब भला धार्मिक रीति-रिवाजों में पलनेवाला बाप कैसे स्वीकारे ? अतः उन्हें कठिनाई होती थी, जबकि मेरे पिता मुझे बड़े स्नेह से कहा करते—'बेटा, तुम खर्च की चिंता नहीं करना। जितना चाहो, खर्च करो, माँ से माँग लो। बस, मेरे अरमान पूरे होने चाहिए। बेटा, तुम पहली जमात से फर्स्ट रहते आये हो—देखना, यह गौरव टूटने नहीं पाये।'

माँ अलग अजस्र स्नेह बरसाती, कहती—'तुम कहते हो, होस्टल में बढ़िया खाना मिलता है, मुझे यकीन नहीं होता। कहीं अलग मकान खोज लो। वहाँ नौकर रखकर खाना बनवाऊँगी और मैं भी लगी रहूँगी।'

मैं यह सुनकर भाव-विभोर हो जाता। उतने बड़े होकर भी माँ के आँचल में छिप जाता। उसे अपनी बाँहों में भरकर कहने लगता—'माँ, तुम मुझे बच्चा समझती हो क्या ?' 'बच्चे नहीं हो तो क्या हो ? छोटे बच्चे ही आँचल की छाँह गहते हैं।' मैं लजाकर सिकुड़ जाता।

पोस्ट ग्रेजुएट डिपार्टमेंट में नौकरी होते ही मुझे अलग मकान दे दिया गया। माँ ने जाकर सारी व्यवस्था संभाल दी। मेरी देखरेख के लिए एक विश्वासी नौकर भी रख लिया गया। मेरे दिन मजे में कट रहे थे। माँ सब इंतजाम कर जाने लगी तो बोली—'वैसे तो तुम काफी पढ़ चुके हो, तुम्हारा विचार मुझसे भिन्न हो सकता है, पर जवान बेटे को एकाकी

छोड़ना ठीक नहीं होता। जितनी जल्दी हो, तुम्हारा विवाह हो जाना चाहिए।' फिर उसने मेरी ओर एक्सरे-दृष्टि से देखा था, शायद मेरा मनोभाव जानना चाहती हो, पर मैं विचारहीन था। उसे कुछ उत्तर देना था, नहीं देना मेरी अशिष्टता होती। इसलिए दबी ज़ुबान में बोला था—'तुम मेरे बारे में इतना चिंतित बेकार होती हो। शादी क्या जरूरी है? देखा जाएगा।'

पता नहीं माँ की उस बात का क्या असर हुआ कि मैं अपेक्षाकृत उस ओर अधिक सजग रहने लगा। जो कामनायें दब गई थीं या शालीनता, संकोचवश दबा दी गई थीं, वे धीरे-धीरे सिर उठाने लगीं—नानारूप धारण कर प्रकट होने लगीं। पहले मैं अपने मन में उठने वाले उस प्रकार के तूफान को दबाने की चेष्टा करता, फिर निढाल होकर हथियार डाल देता। मैं उस स्थिति से लड़ नहीं पाता और हार कर चुप रह जाता। मेरी स्थिति नरभक्षी बाघ की तरह हो गई थी। उसके दाढ़ में एक बार खून लगते ही उस आदमखोर की आदत बढ़ती ही जाती है। चाँदनी रात थी। धवल ज्योत्स्ना अग-जग को नहला रही थी। मुझे लगता था कि कोई मेरे मन प्राणों में सम्मोहन का आसव उड़ेल रहा हो। मैं बहा जा रहा था—सोच नहीं पाता था कि इस बहाव का कोई अंत भी है क्या?

मृदुला षष्ठ वर्ष में पढ़ती थी। उसका विषय भी अंग्रेजी ही था, जिसका मैं प्रोफेसर था। एक-दो बार सेमिनार में उसकी प्रतिभा से मैं प्रभावित हुआ था। मेरे प्राध्यापक ने उस विषय में अंतर्निहित संभावनाओं को देख लिया था। उसका नाकनक्श, देह की बनावट, इतनी आकर्षक और संतुलित थी कि सहज ही किसी का ध्यान उस ओर जा सकता था। उसकी सबसे बड़ी विशेषता थी अभिजात्य संस्कार। जब वह क्लास में घुसती—लगता कि कोई हंसिनी निर्बाध गति से धीरे-धीरे आ रही हो। अपने प्रति आत्मविश्वास की धनी, अपने में ही केन्द्रित रहने वाली थी मृदुला। मुझे उसकी सुन्दरता और आत्मकेन्द्रीयता से कुछ लेना-देना नहीं था, फिर भी कोई अज्ञात शक्ति मेरे नहीं चाहने पर भी मुझे जबरन उस ओर ढकेल रही

थी। वैनी शिष्या के प्रति मन-ही-मन मैं कृतज्ञता और पुलक का अनुभव करता। यह अलग बात है कि मैंने अपने इस लगाव को प्रकट करने का कोई अवसर नहीं आने दिया। इतना अवश्य हुआ कि एक दिन ट्यूटोरियल क्लास में शैली के इमेजरी पर बोलते हुए मैं काफी भावुक हो उठा। फिर उस प्रवाह में कितना क्या बोल गया, मुझे पता ही नहीं चला। जब मैं अपने प्रकृत संसार में लौट आया, तो मृदुला को मंद-मंद मुस्कुराते पाया। उसकी मुस्कुराहट में न संकोच की अर्गला थी और न गुरु के प्रति किसी शिष्टता का शेष। वह बड़ी प्रगल्भ लग रही थी। मेरा सम्मोहन तब भी पूर्णतया टूटा नहीं था। मैंने उसी रौ में कहा—'जिसे कुछ दिक्कत हो, आकर मेरे आवास पर मिले।' मेरा यह आग्रह स्पष्ट रूप से मृदुला से था, जिसे मैं चाह कर भी छिपा नहीं सका और उसी वाक्य में जोड़ते हुए बोला—'क्यों मिस मृदुला, रोल नं० १३, आपको कोई दिक्कत तो नहीं है ?' वह प्रकट रूप से कुछ नहीं बोली, पर उसकी मुखमुद्रा साफ-साफ बता रही थी कि उसे मेरे घर पूछताछ करने आने में खुशी होगी। मैंने अपनी ओर से पहल करते हुए उसे धर्म संकट से उबारा—'आप शौक से आ सकती हैं, बशर्ते पहले एप्वाइंटमेंट ले लें।'

बात आई गई हो गई। मेरे अध्यापन कला की प्रशंसा हुआ करती, जिसे मैं कोई महत्व नहीं देता। कारण था मैं ताजा एम० ए० में टॉप करके आया था। सारा विषय याद था। समय काफी था—एकाकी जीवन। अतः तैयारी करके क्लास लेता। जहाँ अन्य प्रोफेसर (जिसमें मेरे गुरु भी शामिल थे) घिसीपिटी बातें वर्षों से दुहरा रहे थे।

शनिवार की रात मैं काफी देर तक जागता रहा। मार्च का महीना था। बसंत पूरे तामझाम के साथ आ गया था। हवा बड़ी मादक थी। पता नहीं कैसे स्मृति का एक झोंका मुझे बहाते हुए मृदुला के पास ले गया। मुझे लगा उसी के आसपास चक्कर काट रहा हूँ। इधर-उधर ध्यान जाता, पर कोई शक्ति जबरन मुझे उसी के पास ले जा पटकती।

उस दिन रविवार था। मैं सोकर देर से उठा था। तैयार होकर एक

अंग्रेजी फिल्म जाने के मूड में था। मेरे नौकर गजाधर ने आकर सूचना दी—'साहब, कोई मेम साहब आपसे मिलना चाहती हैं। कहती हैं आप उनके मास्टर हैं।' बिजली की गति से मृदुला का चेहरा मेरी आँखों के आगे नाच गया। अजीब सम्मोहन मेरे मन प्राणों पर छा गया। रात की खुमारी अभी टूटी नहीं थी। मैंने प्रकृत होते हुए उसे भीतर बुला लाने को कहा।

उसने जब मेरे स्टडी रूम में प्रवेश किया, तो लगा कि उसके अहसास से वातावरण में संगीत का समा बंध गया है। उसके पूरे वजूद से अजीब आभा छिटक रही थी। मैं मुग्ध आँखों से मृदुला को ही देखता चला गया। मैं भूल ही गया कि वह मेरी शिष्या है और मुझसे कुछ पढ़ने आई है। मैं ज्ञान-दान करने वाला हूँ। उसकी आवाज वीणा के तारों के समान झंकृत हुई—'गुड मॉर्निंग सर! आई एम एक्सट्रीमली सॉरी सर फॉर डिस्टर्बिंग यू विदाउट प्रिवियस एप्वाइंटमेंट।' मेरी तंद्रा भंग हुई और मैंने ब-मुश्किल कहा—'डॉन्ट वरी, आई एम रैदर ग्लैड टु सी यू।'

यह सुनकर कली के समान वह खिल उठी। प्रसन्नता की आभा उसके मुख पर साफ-साफ दिखाई पड़ रही थी। उसे एकटक देखना मुझे नागवार लगा। मैंने ध्यान हटाने के लिए सामने की दीवार पर नजर डाली। वहाँ नर छिपकली मादा छिपकली से मान मनुहार कर रहा था। मैं मुस्कुराए बिना नहीं रह पाया। भरसक अपने को गम्भीर बनाते हुए पूछा—'लेट मी डिसकस योर प्रोब्लम।'

वह बड़े सहज भाव से शैली साहित्य के मुद्दों पर मुझसे बात करने लगी। मैं मंत्रचालित पुतली-सा उसे धड़ाधड़ उत्तर देने लगा। तब मैं खुद नहीं जानता था कि उत्तर चेतना के किस धरातल से आ रहा है। मैं अपनी जाग्रत चेतना में मृदुला को देखे जा रहा था। उसके रूप का नशा मुझे अवश बनाए जा रहा था। मेरी नसों में कुछ रेंगने लगा था, जो मुझे चैन से बैठने नहीं देता था, फिर भी कुछ था, जो मुझे संयत किए हुए था। मृदुला मेरी बात तन्मय होकर सुन रही थी, पर बीच-बीच में उसकी मंद

मुस्कान मुझे उत्तेजित होने को बाध्य कर देती थी। मैं अपने पुराने संस्कारों के कारण कभी उतना चंचल नहीं हो पाया, किन्तु मृदुला की आँखों और मन ने मेरे भीतर के चोर को अच्छी तरह पहचान लिया था।

फिर तो मृदुला का आना-जाना जारी रहा। डिपार्टमेंट में हल्ला हो गया कि मैंने अपनी जोड़ी चुन ली है। क्लास में भी उसके हाव-भाव में भारी परिवर्तन आ गया। उसकी प्रसन्नता पता नहीं कर्पूर गुटिका के समान कहाँ उड़ गई। उसने लाज और संकोच का घूंघट ओढ़ लिया था। एक दिन मृदुला अन्य दिनों की तरह जब मेरे आवास से लौटने लगी, तो उसका चेहरा संध्या के समान उदास हो गया। आँखों में पनीला बादल तैर आया। मेरा पुरुष मन इसे ताड़ नहीं पाया। अतः पूछ ही बैठा—'अकारण उदासी का क्या कारण है मृदुला ? क्या मैं जानने का अधिकारी हूँ ?'

उसने गाल पर ढुलककर आ गए आँसुओं को पोंछते हुए कहा—'नारी का जीवन बड़ा विवश होता है। काश, तुम जान पाते कि उसके हृदय में कैसा झंझावात चलता रहता है ?'

'मैं जानने के लिए व्याकुल हूँ मृदुला। बताओ तो सही। प्लीज मृदुला।'

'तुम हो बड़े बाप के बेटे। अमीरी में पले-बढ़े हो। तुमने मुझसे विवाह का वायदा तो किया है, पर तुम्हारे पिताजी नहीं चाहें तो मैं क्या करूँ ? मेरे पिता तो साधारण हैसियत के किरानी हैं।' यह कहकर मृदुला की आँखों के आगे उन असंख्य अभागिनों की उजड़ती जिंदगी की तस्वीर घूम गई, जो अपने सपनों को साकार करने के बजाय उन्हें दफनाने के लिए मजबूर हो गई थीं।

'बस, इसीलिए उदास हो गई। मैं इस समस्या को चुटकी से हल कर दूँगा।'

'सच कहते हो ?'

'हाँ, बिल्कुल सच ? तुम्हारी कसम।' यह कहकर मैंने उसका हाथ इस प्रकार थाम लिया, मानो आजीवन थामे रहने की प्रतिज्ञा कर रहा होऊँ।

उस दिन मृदुला अपेक्षाकृत स्वस्थ हो गई और यह कहकर लौट गई—'ईश्वर तुम्हें प्रतिज्ञा पालन की शक्ति दे। बाय-बाय।'

मृदुला के साथ जिस स्नेह डोरी में मैं बंधा था, उससे अलग होने की कल्पना तक मेरे लिए दुःखदायी थी। वह रूपवती भर नहीं थी, उसमें पत्नी होने के सारे गुण मौजूद थे। उसका वह पक्ष मुझे अधिक प्रभावित करता, जब वह अधिकांश समय मेरी तरक्की के बारे में विचार करती रहती और मुझे तदनुकूल प्रोत्साहित भी। मैंने मन-ही-मन अपनी प्रतिज्ञा दुहराई—'इस शहर में मेरे पिताजी को बहुत लोग जानते हैं। यहाँ उससे विवाह करना खतरनाक हो सकता है। ऐन मौके पर कोई झंझट खड़ा हो जाये। अतः किसी दूसरे शहर में जाकर हम लोग विवाह कर लें। पिताजी बाद में भले ही बुरा-भला कहें, पर माँ हमें अवश्य आश्रय देगी। फिर मैं कौन पराश्रित बच्चा हूँ। दोनों मजे में जी लेंगे।'

शुभ दिन का विचार कर मैंने मृदुला को इसकी सूचना दी कि वह अपने माता-पिता से अनुमति लेकर समय पर स्टेशन चली आये, वहीं से हम लोग दिल्ली के लिए प्रस्थान करेंगे। मुझे विश्वास था कि दिल्ली जैसे शहर में पिताजी मुझे खोज भी नहीं पाएँगे। यदि संयोग से खोज भी लिया, तब तक हम लोग किसी मन्दिर में विवाहित हो चुकेंगे। उत्कट कामना पूरे भविष्य को अपने अनुकूल ही देखा करती है। यही उसे उसकी पूर्ति के लिए प्रेरित भी करती है।

उस दिन मेरा १० बजे ही क्लास था। वह स्पेशल पेपर का घण्टा था, जिसमें मृदुला को भी आना था, पर वह नहीं आई थी। मैं आश्वस्त हो गया था कि वह तैयारी कर रही होगी। बारह बजे मैं घर लौट आया था। खाने के बाद जाने की तैयारी करने लगा। मेरा दिल बड़ी तेजी से धड़क रहा था। इतनी तेजी से कि उस धड़कन को मैं साफ-साफ सुन सकता था। मैं पुरुष था, साथ-साथ जीने के लिये भागने की प्रतिज्ञा कई बार दुहरा चुका था और इसमें कोई हर्ज भी नहीं था, फिर भी कोई अज्ञात भय रह-

रहकर मुझे कंपा जाता था। मैं उसे जबरन दबाने की चेष्टा करता, पर वह उभरता ही जाता।

गजाधर भागता आया—'साहब, आपका तार है।' मैंने जल्दी से तार खोला। लिखा था—'१० मार्च को शादी पक्की, तुरन्त चले आवो।' मैं उस समय भागकर किसी मित्र के यहाँ छिप सकता था और वहीं से सीधे स्टेशन जा सकता था, पर मेरी स्थिति उस खूनी की तरह हो गई थी, जिसे पुलिस खून करते देख रही हो। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया—मृदुला के प्रति मेरे लगाव की सघनता परिस्थिति के ताप में शनैः-शनैः पिघलने लगी। मैं तटस्थ भाव से उसे पिघलते देखता रहा और दूसरी ओर उसके प्रति अपने कर्त्तव्य बोध के लिए जागरूक भी रहना चाहता था। उस दिन आठ मार्च था। मेरा अंतर्मन जानता था कि समय नहीं है। एक-एक क्षण निर्णायक है। पिताजी के सामने मेरी घिग्घी बँध सकती थी—उनसे सवाल-जवाब तलब करना मेरे बूते की बात नहीं थी, फिर भी मृदुला का आकर्षण मुझमें अदम्य जोर भर रहा था। उसका चेहरा रह-रह कर झाँक जाता था, जिसमें मैं शक्ति संचित करने का मंसूबा बाँधता था। मुझे लगा अजगर के समान किसी अज्ञात शक्ति ने मुझे जकड़ लिया था, जिसके कारण मैं हिल-डुल भी नहीं सकता था। जबकि मुट्ठी से समय फिसला जा रहा था—एक-एक क्षण महत्वपूर्ण था, पर मेरे लिए वक्त थम गया था। कालबोध मर गया था।

मैं इसी पशोपेश में खड़ा था कि सामने आकर पिताजी खड़े हो गए। मैं झुककर उनका चरणस्पर्श करूँ कि वे खुद बोल उठे—'पैर छूने की कोई जरूरत नहीं है। मैं स्वयं आशीर्वाद देता हूँ। बच्चे कभी-कभी कुमार्ग पर चले जाते हैं। माता-पिता के स्वप्नों को साकार करने के बजाय अपनी बनाई दुनियाँ में ही लीन हो जाते हैं। सामान समेटो। आज शाम तक घर पहुँच जाना है। तुम्हारा तिलक होगा।'

मेरे पैरों के नीचे की धरती घूमती नजर आई। परिस्थिति इतनी जल्दी एकदम हमारे विपरीत हो जाएगी—इसका अनुमान मैंने नहीं किया था।

मुझे पिताजी के सामने कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। फिर सोचा कि माँ को मना लूंगा, पर घर पहुँचने पर पिताजी की आज्ञा टालना कठिन था। जो कुछ हो सकता था, तत्काल हो सकता था। उसी एक घड़ी में मृदुला के भविष्य का फैसला होना था। उसके प्रति मेरे प्रेम-प्यार को जिलाए रखना था या सदा-सदा के लिए दफना देना था। मैं कभी पिताजी के चेहरे की ओर देखता और कभी अपने मन को टटोलता। वे एकदम शांत थे। पूर्णतः निश्चिन्त कि अब मैं तैयार होकर पीछे हो लूंगा। मैंने अपनी सारी शक्ति समेटकर प्रार्थना के तौर पर बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा—'पिताजी, अब मैं बच्चा नहीं रहा। आपकी कृपा से बड़ा हो गया हूँ। मुझे भी अपने हित-अहित के बारे में सोचना आता है। मैं सोचता हूँ कि इसका अधिकार भी मुझे है।'

—'तुम प्रोफेसर हो गए हो बेटे ! सही बात है। पर मैं तुम्हारा हित जितना देखूंगा, तुम नहीं देख पाओगे बेटा। मेरे अनुभव का लाभ तो तुम्हें मिलेगा ही।'

—'पिताजी ! मैंने विवाह करने का फैसला मृदुला से कर लिया है। उससे मुकरना मेरे लिए मुमकिन नहीं है।' अन्तिम वाक्य मैंने दुस्साहस के साथ कहा था, जबकि पिताजी की प्रतिक्रिया का अन्दाज मुझे था। वे एक क्षण के लिए चुप हो गए। तूफान के पहले की शांति छा गई। मैं दम रोककर उनकी ओर देख रहा था। फिर वे बिजली के समान कड़के—'जहाँ मन हो, कर लो शादी। मुझे एतराज नहीं, पर खबरदार, जो कहीं मुँह खोला कि तुम रामप्रसाद कलेक्टर के बेटे हो। आज से तुम मेरे लिए मर चुके हो।' इतना कहकर वे पैर पटकते हुए कमरे से बाहर निकल गए और ऊँची आवाज में गजाधर को पुकार कर कहा—'तुम चलो मेरे साथ। साहब को अपने भाग्य पर छोड़ दो। बड़े बुजुर्ग बने हैं!' मैं उनका रौद्ररूप कई बार देख चुका था। मेरे भीतर का पुरुष पता नहीं कैसे गल-गलकर बहने लगा, जिसके साथ मृदुला की छवि भी धूमिल होती चली गई। मैंने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया कि मृदुला के साथ किए गए वायदे का क्या

होगा। गुरु और प्रेमी की प्रतिमा किस प्रकार एक साथ चकनाचूर हो जाएगी। रह-रहकर उसका कातर और निरीह मुखड़ा मेरी आँखों के आगे अपनी झलक दिखा जाता, पर पिताजी के भय की आंधी में वह भी बिखरता जा रहा था। मैं आज्ञाकारी बालक की तरह पिताजी के पीछे-पीछे चलकर गाड़ी की पिछली सीट पर बैठ गया, क्योंकि पिताजी बराबर ड्राइवर के साथ बैठते थे।

अब मृदुला मेरे ही विभाग में प्रोफेसर बन गई थी। उसने भी इस वर्ष टॉप किया था। मुझे कभी उसे सफाई देने की हिम्मत नहीं हुई कि किन परिस्थितियों में मेरा विवाह हुआ, पर मैं जानता था, उसे सब पता चल गया है। मुझे गोपनीय सूत्रों से यह भी ज्ञात हुआ था कि उस दिन स्टेशन पर मेरे नहीं पहुँचने पर वह तो गिरकर मूर्च्छित हो गई थी। घर आकर उसके माँ-बाप ने उसे जी भर कर कोसा था। एक मास तक वह कॉलेज भी नहीं आई थी।

जब भी मैं अपने सहकर्मी के रूप में मृदुला को देखता हूँ, उसका कौमार्य लाख-लाख बिच्छू बनकर मुझे काट खाने लगता है। उसकी मजबूरी मेरा ही मजाक उड़ाकर मुझे बौना बनाने लगती है। उसे देखकर मुझे अहसास होता है कि मेरा पौरुष गल चुका है, मैं नपुंसक हो गया हूँ, एकदम निरुपाय। यही कारण है कि मृदुला का नमस्ते करना भी मेरी कई दुखती रगों को और भी दुखा जाता है और बड़ी मुश्किल से मैं प्रत्युत्तर दे पाता हूँ।

अहसास

आज तो हद हो गई। बीच सड़क पर ही दोनों उलझ पड़े। पहले तू-तू, मैं-मैं हुआ; फिर गाली-गलौज। उसका क्रोध उबलता ही गया। आखिर, मीता कब तक बर्दाश्त करती! उसके मन में भी आक्रोश और अपमान का लावा फूट रहा था। उसने कुछ नहीं पाया, तो दांत से काट लिया सुधाकर को। चलती-फिरती सड़क पर लोगों का उमड़ता मेला। कुछ काल तक वे कौतुक और मनोरंजन की वस्तु बने रहे, फिर कुछ परिचितों और कुछ अजनबियों के हस्तक्षेप से मामले पर तत्काल पूर्णविराम लगाना पड़ा। दोनों चुपचाप घर लौटे और अपने-अपने कमरे में पड़ गये। अक्सर ऐसा होता आया था और नाव इस मझधार में आकर फंस गई थी कि किनारे तक पहुँचने के बारे में कुछ प्रयत्न करना तो दूर, सोचना भी कठिन लगने लगा था।

मीता अपने को कमरे में बन्द कर कुछ काल तक पड़े रहना चाहती थी, कुछ सोचना चाहती थी। किसी घटना के बाद उस पर प्रतिक्रिया

चलती ही है। यह अलग बात है कि लोगों को अपना दोष दिखाई नहीं पड़ता। पर-छिद्रान्वेषण लोगों का स्वभाव होता है। मीता कमरा बन्द करने ही जा रही थी कि उसकी बेटी सीमा आ गई और स्कूल के किसी टास्क को हल करने के लिये हठ कर बैठी। आदमी क्रोध में बावला होता है, तो उसे उत्तेजित करने के लिये साधारण बात भी काफी होती है। मीता ने कहा—'अपना काम खुद करो, मुझसे नहीं हो सकेगा।' ऐसी बात सुनकर वह और भी जिद्द कर बैठी—'कर दो न, मम्मी। मुझे कल कितनी डांट पड़ेगी, तुम जानती हो?' यह कहकर सीमा उसका आंचल पकड़कर लटक गई। उसका लटकना था कि तड़ाक-तड़ाक दो चपत उसके गालों को लाल बना गये। उंगलियों के निशान साफ-साफ उभर आये। सीमा तो अवाक् रह गई। फिर रोती-कलपती अपने कमरे में भागी।

फरवरी का आखिरी सप्ताह चल रहा था। वातावरण में सर्दी का अहसास था। रात को एक रजाई का जाड़ा शेष रह गया था। मीता बाहर एक ऊनी कार्डीगन के साथ गई थी। बाजार में ही सुधाकर से भेंट हो गई थी। वह एक माह के बाद दो दिनों के अवकाश में मीता से मिलने आया था और यह घटना घट गई। मीता ने पंखा ऑन कर दिया। उसे बड़ी गर्मी मालूम पड़ रही थी। उसे जितनी हवा लगती, उसका मन और खराब होता जाता। आखिर उसने पंखा बन्द किया और धड़ाम से पलंग पर गिर गई। सीमा के सुबकने की आवाज आ रही थी, पर उसने उस ओर एकदम ध्यान नहीं दिया। वह रोने लगी, रोती रही। रोते-रोते उसकी आँखें सूज गयीं। वह अपने को हल्का महसूस कर रही थी। पता नहीं चलता था कि ये आँसू पश्चात्ताप के हैं या अपनी दयनीय स्थिति के प्रति गम के। बरसने के बाद जिस प्रकार आकाश साफ हो जाता है, उसी प्रकार मीता का मन शांत हो गया था। वह प्रकृतिस्थ होकर सोचने लगी—आखिर यह सब क्यों होता है। वह कौन-सा बिन्दु है, जहाँ हम लोग टकराने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जिसे टाला नहीं जा सकता है? क्यों उसकी स्थिति ढलान पर लुढ़क रही उस बिना ब्रेक की गाड़ी की तरह हो

जाती है, जिसे चाहकर भी रोकना मुश्किल हो जाता है ? सुधाकर से उसे क्यों एलर्जी रहती है, क्यों सुधाकर की मिश्रीयुक्त वाणी भी उसमें गरल घोलती है, क्यों सुधाकर का प्यार भरा निमन्त्रण उसमें कोई सुगबुगाहट पैदा नहीं कर पाता ? वह इन सवालों से जूझने लगी और इन्हीं से सम्बद्ध अतीत की एक घटना चलचित्र की भाँति उसके मानस पट पर नाचने लगी।

सुधाकर के मन में भी तूफान चल रहा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि साधारण-सी बात, जो अभिधा में कही जाती है, उसे लक्षणा और व्यंजना का अर्थ देकर मीता तूफान करने लगती है। मिलते ही उसने इतना ही तो कहा था—'आज कालेज से लौटने में बड़ी देर हो गई, मीता? कोई फ़ंक्शन था ?' बस, इसी पर वह बरस पड़ी थी, 'तुम मुझ पर बराबर सन्देह करते हो ! मैं समय पर भी लौटूं, तो भी तुम्हें शक होता है। अपना जीवन भूल गये ? पता है तुम कितने पानी में हो, नीच, कमीने !' भरी सड़क पर उसने विषबाण-से बुझे वाक्यों को भी अपनी मुस्कान से झेलने की कोशिश की थी। पर उसकी इस मुस्कराहट ने आग में घी का काम किया था। मीता को लगा था कि सुधाकर मुस्कराकर अपने सन्देह को पक्का कर रहा है और उसका उपहास कर रहा है। इसलिए उसने भारी गाली का प्रयोग किया था। सुधाकर ठहरा पुरुष, मीता का पति, उसका भी अहं था, जो ठनक उठा। न उसने पत्नी होने की परवाह की और न बीच सड़क पर होने की ही और तड़ातड़ चपत बरसा दिये थे। वह भी इस पर सोचने के लिए बाध्य हो गया था। उसका मन कह रहा था कि वह वहाँ से हट सकता था, मीता की जली-कटी को अनसुनी कर सकता था। लेकिन ऐसा करना उसके वश के बाहर की बात थी। वह जितना ही दरकिनार होता, समर्पण की मुद्रा में होता, मीता का वार उतना ही तिलमिलाने वाला होता। सम्भव था, प्रतिक्रिया स्वरूप वह और भी गहरा वार करता।

इसलिए जो जिस घड़ी में होना था, वह उसी घड़ी की, एकमात्र उसी

घड़ी की उपज थी। उस पर सोचना विचारना बेकार है। यह सोचना जरूर लाजमी है कि उस घड़ी को जन्म देनेवाले कौन-कौन घटक हुए और उसके विकास की प्रक्रिया में किसका योगदान है। सीमा की रुलाई से सुधाकर परेशान हो गया और उसे गोद में लेकर चुप कराने लगा। उसने उसके बाल सहलाए, पीठ पर हाथ फेरा। इस प्रेम वर्षा से सीमा तत्काल शांत हो गई। धीरे-धीरे उसे नींद आ गई।

बीते बीस वर्षों की एक-एक घटना मीता के मन में चक्कर काटने लगी। उसका पिता साधारण किसान का बेटा था। अन्य बेटों के भविष्य की चिन्ता किए बिना बड़े बेटे (मीता का पति) को काफी पढ़ाया, बड़े घर के बेटे की भाँति पाला। नतीजा अच्छा निकला और वह बम्बई में कस्टम अधिकारी बन गया। उसका विवाह उसी समय हो गया था जब वह इंटर कर रहा था। लड़की एक साधारण काश्तकार की थी, देखने में सुन्दरी, शिक्षा के मामले में पहली रीडर का ज्ञान। पिता बम्बई में कमाने लगा, मां वहीं रहने लगी। पिता प्रगतिशील ख्याल का था, माँ को भी सभी आयोजनों में ले जाता। धीरे-धीरे उसे भी आधुनिका बना दिया गया। आधुनिकता और फैशनपरस्ती के प्रवाह में संयम और मर्यादा की सीमाएँ धीरे-धीरे टूटने लगी थीं। पिता रात गए लौटता तो माँ कोई विशेष पूछताछ करना आवश्यक नहीं समझती। माँ को इसी से संतोष होता कि उसका पति काम के बाद मनोरंजन करता है, जो उसके रुतबे और सेहत के लिए जरूरी ही है। मीता उस समय दस वर्ष पार कर रही थी। वह वहीं के एक कान्वेण्ट में पढ़ती थी। उसके घर एक कद्दावर सुदर्शन नौकर रहता था। उसके पहनावे और रहन-सहन से ऐसा पता नहीं चलता कि वह वहाँ नौकर भी हो सकता है। चूंकि वह माँ के नैहर का था, इसलिए माँ का उसके प्रति अधिक स्नेह वाजिब था। वह घर का काम-धाम कम करता था, बाहर घूमने-फिरने में लगा रहता था। माँ ने भी कभी उस पर रोक नहीं लगाई। पिता कभी घरेलू मामले में हस्तक्षेप नहीं करते थे। उसे अपनी पत्नी पर पूरा भरोसा था। बच्चे अच्छी शिक्षा पा रहे हैं, घर सजे

में चल रहा है । उसके लिए इतना ही काफी था ।

मीता चौदहवाँ पार कर रही थी । एक दिन वह कालेज से लौटी तो ठगी-सी रह गई । माँ और नौकर को उसने विचित्र हालत में देखा । उसे माँ के सामने कुछ बोलने का साहस नहीं हुआ । वह कई दिनों तक अजीब उधेड़बुन में पड़ी रही । वह सोचती रही—माँ को कुछ कहना उसके बूते के बाहर की बात है । पिता को कहे तो कैसे कहे ? यदि कहे तो उन्हें विश्वास क्योंकर होगा ? अगर ठीक-ठीक कह पाई और पिता को विश्वास भी हो गया तो अंजाम क्या होगा ? नौकर पर बीतेगी या माँ पर, या पूरा परिवार भोगेगा ? यही सब सोचते-सोचते एक दिन वह इस निश्चय पर पहुँची कि नौकर की शिकायत कुछ घुमा-फिराकर पिता से अवश्य करेगी । सम्भव है इससे पिता को वस्तुस्थिति की जानकारी मिल जाये और वह कोई ठोस कदम उठाये ।

उससे जैसा बन पड़ा, जो देश काल पात्र के अनुसार कहने योग्य था, पिता को चुपचाप कह सुनाया । पिता ने उसे आश्वस्त किया कि वह नौकर को निकाल बाहर करेगा । उसे अपनी कार्यवाही पर भीतर से संतोष हुआ था । पर, यह सब भ्रम था । नौकर उसी प्रकार स्वच्छंद विचरण कर रहा था । माँ के साथ उसके संबंधों में कहीं कोई अन्तर नहीं आया था । उल्टे वह इतना शोख और ढीठ हो गया था कि मीता पर डोरे डालने लगा । किशोरावस्था बड़ी नाजुक होती है । सैक्स के प्रति अजीब उत्सुकता का भाव रहता है । उसके बारे में जानने, उसका अनुभव करने के लिए धैर्य की दीवार अधिक काल तक उसे नहीं रोक सकती । माँ-बाप के रवैये और नौकर की स्वेच्छाचारिता के कारण एक दिन उसे भी उस खंदक में गिरना पड़ा । पतन की राह बड़ी चिकनी होती है, ढलाऊ भी, एक बार फिसले तो फिर फिसलते चले गये । । मीता इसी कुचक्र की शिकार हो गई । कभी-कभी उसके मन में भी इस स्थिति से विद्रोह का स्वर फूटता था, घृणा होती थी, पर यह सब क्षणिक था । वह उस धारा में निढाल पड़ गई थी—धारा जहाँ ले जाये । इसी प्रवाह में मर्यादा के तट कब के छूट गये थे ।

कालांतर में पिता का तबादला त्रिवेन्द्रम हो गया था और मीता अपने प्रांत के शहर के कालेज में पढ़ने के लिए भेज दी गई थी। पढ़ाई उसने पूरे जोर-शोर से चालू रखी। अपनी क्लास में बराबर अव्वल स्थान लाती रही, पर एक बार पाँव कुठौर में बहक गए थे। वह पैकर चलने की आदी हो गई थी, तो उसे नेक रास्ते पर लाना टेढ़ी खीर था। उसके ब्वाय-फ्रेण्डों की कमी नहीं थी। वह सुन्दरी और आकर्षक ही थी, रहन-सहन ऊँचा ही था। आज यहाँ पिकनिक कल वहाँ पिकनिक। आज यहाँ मिलने जाना है, कल उसके साथ नाइट शो में सिनेमा जाना है। विविधता की चाट एक बार जब नारी को लग जाती है, तब उससे उसका पिंड छूटना उसी प्रकार कठिन हो जाता है, जिस प्रकार नर-खून का स्वाद चखने पर बाघ की आदमखोरी को सदा-सदा के लिए मिटाना।

अब मीता एक पत्नी थी। उसकी बच्ची आठ वर्ष की हो गई थी। उसका पति ऊँची शिक्षा प्राप्त आई० ए० एस० पदाधिकारी था। जितना व्यक्तित्व दबंग और आकर्षक था, उसका स्वभाव उतना ही मधुर, मृदुभाषी और मिलनसार था। उसका लालन-पालन दूसरे परिवेश में हुआ था। माता-पिता दूर देहात में रहनेवाले कट्टर वैष्णव, अनुशासनप्रिय और मर्यादावादी थे। सुधाकर को इन गुणों के बीज जन्मघूंटी के साथ पिलाये गये थे। उसने मीता के अलावा कभी किसी नारी-मूर्ति की स्वप्न में कल्पना नहीं की थी। उसने जिस निष्ठा और ऐकांतिकता से पत्नी को प्यार किया था, उससे भी वैसा ही प्रतिदान चाहता था। वह उसके अतीत के काले पृष्ठों से अवगत नहीं था। अतीत में झाँकना उसका स्वभाव नहीं था। वह झुलसे अतीत की ओर पीठ कर देना चाहता था। यह उसकी आदत थी। वहाँ माता-पिता की गरीबी छोड़कर अतीत में कुछ नहीं था जिस पर यह लजा सके। उसे एक बात अखरती थी कि पत्नी उसके प्यार की उष्णता के बजाय ठण्डी क्यों हो जाती है? आग दोनों ओर क्यों नहीं लग पाती है? पारस्परिक समझौते और सहिष्णुता की बात तो दूर, मीता बराबर सुधाकर की बात को तिल का ताड़ बनाकर तूफान मचाया

करती थी। सुधाकर इसके कारणों की तह में गहरे, खूब गहरे उतरता था, पर उसे अपना कोई दोष नजर नहीं आता था। इतनी गलती उसकी जरूर थी, जिसके लिए वह पश्चात्ताप भी किया करता था कि मीता की ज्यादती, उसके प्रति किए गये अन्याय को एक सीमा के बाद वह सह नहीं पाता था और अपना आक्रोश निकाल ही देता था। वह सब कुछ बर्दाश्त कर सकता था, पर स्वाभिमान पर ठोकर नहीं, और वह थी कि इसी प्रकार वह अपने व्यक्तित्व की ऐसी दहशत फैला दे कि वह इस पर किसी प्रकार का अंकुश रखने की सोच ही नहीं सके। फलतः उसकी आजादी और स्वच्छंदता पर कोई आँच न आने पाये। हिन्दू धर्म का संस्कार और परंपरा को ढोने की सहनशीलता ही वे कारण थीं, जिनके चलते उनके पारस्परिक संबंध बिखरने की हद तक आकर भी बिखर नहीं पाते थे। दरार वहाँ पड़ गई थी, जिसे दोनों साफ-साफ देख सकते थे। पर साथ-साथ रहने की अपनी-अपनी विशेषतायें थीं। कहीं दिल के किसी कोने में आशा की एक लौ रही होगी कि समय के प्रवाह में कोई दैवीय परिवर्तन आ जाये। निराशा के मध्य आशा के प्रति यह भरोसा कभी-कभी कितना बलदायक होता है।

मीता अपने आप से जूझ रही थी। वह सोच रही थी, देवोपम सुधाकर। आशा और विश्वास का संबल सुधाकर ! कभी उसने मुझ पर उँगली नहीं उठाई, कभी मेरे प्रति उसके मन के आकाश में शंकाओं के मेघ नहीं मंडराये। इतनी बड़ी जवाबदेही वाला पद संभालता वह एकाकी रह लेता है। कभी-कभार फुर्सत पाकर मुझसे मिलने आता है, कितनी उत्कटता के साथ। कितनी उष्णता रहती है उसमें और मैं फ्रिज कर जाती हूँ। उसके प्यार का ठीक-ठीक उत्तर कहाँ दे पाती हूँ। वह फिर भी न खिजलाता है और न मुझ पर बरसता ही है। फिर यह मनमुटाव क्यों, उससे यह एलर्जी क्यों ?

मीता नारी थी, उसके भीतर कई नारियाँ थीं। वे नारियाँ अलग-अलग स्तरों पर जीती थीं—अलग-अलग पुरुषों को जिलाती थीं। मीता की यह

लाचारी थी या जबरन ओढ़ी गई आदत। पर, दुनिया जानती थी, मीता एक नारी है। सुधाकर जानता था कि मीता एक नारी है, जो उसकी पत्नी भर है। उसके सम्पूर्ण नारीत्व पर उसका अधिकार है। एकछत्र शासक है वह उसके पूरे नारीत्व का, पूरे वजूद का। वह चाहता था कि मीता अपनी पूरी मौजूदगी में, अपनी पूर्णता में उससे मिले—वहाँ अन्य की गति नहीं, किसी दूसरे का भाव नहीं हो, पर ऐसा होता कहाँ था? मीता का ठंडापन इसका सबूत था कि वह सुधाकर के प्यार को झुठला रही है। वह नारी खंड-खंड में विभक्त है, जिसका कोई खंड सुधाकर का नहीं है, न उसके अपने खंडों में कोई पारस्परिकता है। इन सारी स्थितियों के बावजूद ऐसा कुछ था, जो सुधाकर को बाँधे हुए था। वह अपने दांपत्य जीवन को इन विषमताओं के विरुद्ध सहेजना चाहता था, टूटने से बचाना चाहता था। लोक-लाज की परवाह भी वह करता था।

मीता सोचती थी कि वह कौतूहल में, खेल-खेल में महज जिज्ञासा के कारण बढ़ते-बढ़ते कितनी दूर आ गई है। वह ऐसे दल-दल में आकर धँस गई है कि न निकलते बनता है और न धंसते ही। उसका उत्तरोत्तर गहरे और गहरे धँसते जाना भले ही कभी-कभी गुदगुदानेवाला, स्मृतियों की फुलझड़ी से गद्‌गद् कर देनेवाला हो, पर जिंदगी शनै-शनैः रेगिस्तान में परिवर्तित होती जा रही है। अभी भी समय बचा है—आत्म-स्वीकृति और प्रायश्चित्त द्वारा परिस्थितियों पर काबू किया जा सकता है। वह सारी बातें सुधाकर से साफ-साफ बता दे, उसकी गोद में आत्म-समर्पण कर दे, क्षमा की भीख माँग ले, तो क्या होगा? मुमकिन है वह उसे बाँहों में भरकर अक्षय प्रेम की वर्षा करे और भावविभोर होकर कहे, 'मीता, तुम मेरी प्राणेश्वरी हो, तुमने सब कुछ कहकर अपने व्यक्तित्व को उजागर ही किया है। तुम गंगा के समान पवित्र हो। आत्म ग्लानि का उदय शुद्ध अंतःकरण में ही हो सकता है।' कौन ठिकाना, वह कह बैठे, 'छि-छिः, तुम कितनी घिनौनी हो! पाप पंक में फंसकर मेरे जीवन के साथ भी खिलवाड़ कर रही हो। तुम्हारी मनहूस सूरत से भी घृणा होती है। सदा के लिए

हट जाओ मेरे सामने से····।'

मीता अजीब ऊहापोह में जो रही थी। अपने रवैये के प्रति उसमें सजगता आने लगी थी। वह यह भी सोचने के लिए विवश होने लगी थी, आखिर पति-पत्नी का यह रिश्ता कब तक कायम रह सकता है भला ! दोनों के रिश्ते को टूटने में देर ही कितनी लगती है ? शीशे के समान चटक कर टुकड़े-टुकड़े हो जाना मामूली बात है। 'मैं कुछ करूँगी जरूर, चाहे अंजाम कुछ भी हो। रोज-रोज दिली जजबात की कुर्बानी करने और पति से नजर चुराने, प्रकारांतर से उसे भुलावे में रखने से बेहतर तो यह होगा कि मैं सब कुछ साफ-साफ कह दूँ और निश्चिंत हो जाऊँ। मुझमें इतनी शक्ति, सामर्थ्य तो हो कि सच को हजार मना करने पर भी अपने एकमात्र आत्मीय सुधाकर को कह पाऊँ।' वह इसी प्रकार के चिंतन में डूबती गई। विषम परिस्थिति कष्टदायिनी अवश्य होती है, यातनाओं के दौर से गुजरवाती है, पर चेतना का द्वार भी उन्मुक्त कर देती है। चौराहे पर एक बार हमारी चेतना अवश्य ही जागरूक हो जाती है—दाएँ या बाएँ या सीधे। कोई खतरा तो नहीं है। तत्काल निर्णय करना जरूरी हो जाता है। यही स्थिति मीता की थी।

सुधाकर की बेटी उसकी गोद में ही सो गई थी। उसका भोला-भाला मुखड़ा, साफ आँखें, निद्रा की शांति। वह एकटक निहारता रह गया। उसके चेहरे में उसे अपना चेहरा दिखाई दिया। पर उस चेहरे के साथ कुछ-कुछ मीता की आकृति भी मिल गई है। कुछ क्षण लगातार देखने से उसे अहसास हुआ कि कभी मीता का चेहरा झाँकता है, कभी उसका। कभी दोनों गड्डमड्ड हो जाते हैं। दोनों के प्यार का केन्द्र सीमा ही थी। यही सब देखते सोचते सुधाकर को लगा, 'मीता पगली है क्या ? मैं उसका क्या बिगाड़ता हूँ ? कब मैंने उसकी भावनाओं को ठेस पहुँचाई है ? वह नौकरी करने से कितना कतराती थी ? घर में ही पड़ी रहना चाहती थी। मैंने ही उसकी डाक्टरेट की डिग्री के सदुपयोग के लिए कालेज की नौकरी का रास्ता सुझाया था। मैंने सदा उसकी भावनाओं की कद्र की है।

आखिर उसे हो क्या गया है ? जरूर मैं उसे समझने समझाने का मौका दूँगा।' डेढ़ सौ मील की लम्बी यात्रा, वह भी बस से, सैकड़ों जगह रुकती, टंगती, शोरशराबे के साथ लोगों की रेलपेल। उसके शरीर का पोर-पोर टूट रहा था। वह घर आकर बिस्तर पर पड़ ही जानेवाला था कि यह घटना घट गई। अब उसने इस ओर ध्यान दिया, तो क्षण भर भी नहीं सह सका। सीमा को बगल के बिस्तर पर लिटाकर स्वयं भी लेट गया। सोचते-सोचते उसे कब नींद ने धर दबाया, पता ही नहीं चला।

मीता का अहं आत्म स्वीकृति से पलायन करना चाहता था। उसका मन कहता था, 'वह क्यों जानबूझकर आफत मोल ले? पुरुष का क्या भरोसा ? आवेश में कुछ कर डाले। वह कहीं की नहीं रह जाये।' फिर इस विचार को उसने झटके के साथ तोड़ डाला, क्योंकि इसमें सुधाकर की रक्षा की बू आती थी, जिसको उसके अहं का फुफकारता सर्प स्वीकारना नहीं चाहता था। एकबारगी ही वह चौदह वर्ष की बच्ची बन गई और वीभत्स दृश्य हजार-हजार देह धारण कर खड़ा हो गया। उसे अपनी एकलौती बेटी सीमा की बर्बस याद आने लगी। वह माँ की अदूरदर्शिता के कारण जिस सड़ी-गली साजिश की शिकार बनी, कहीं उसी की काली छाया सीमा की जिंदगी में अँधियाला नहीं ला दे ? वह माँ को कोसने लगी—उसका भीतर आवे की तरह जलने लगा। 'उसका फल तो मैं आज तक भोग रही हूँ। आगे भी ऐसा ही रहा तो सुधाकर के अलावा सीमा की भी जिंदगी वीरान हो जायेगी। मेरे कारनामों की मनहूस छाया मेरी औलाद को भी 'कौड़ी का तीन' बनाकर रहेगी। नहीं, हर्गिज नहीं। बेटी को वह बचाएगी—चाहे जो कुर्बानी करनी पड़े। अभी क्या कम कुर्बानी सहनी पड़ रही है। मन कितना हार-हार जाता है। पर ऊपर से सुधाकर को हराने में कितना मजा आता है। इतना ही न होगा कि पति उसे त्याग देगा, गला फाड़कर उसका इतिहास दुहरायेगा या गम के आँसू पीकर मुझसे घृणा करता अलग हो जायेगा। मुझे परवाह नहीं है। दुहरी मार अब मुझसे सही नहीं जाती। मैं सब कुछ साफ-साफ कह दूँगी,

सुधाकर को। आज ही, अभी, हाँ अभी तुरन्त।'

वह लपककर उसके कमरे में घुस गई। बाप-बेटी मजे से सो रहे थे। सुधाकर का निर्दोष मुखड़ा नींद में और भी मोहक लग रहा था। सीमा के चेहरे से रह-रहकर उसका मुखड़ा झांक रहा था। वह अजीब भाव-दशा में पहुँच गई। सचमुच वह उसे इतना प्यारा और मोहक कभी नहीं लगा था। उसने हौले-हौले सुधाकर के बाल सहलाये, उसके जागने का इंतजार किया, पर वह जग नहीं पाया। सीमा को एक ओर खिसका कर मीता सुधाकर के बगल में लेट गई। उसके शरीर में अजीब सनसनी फैल रही थी। उसने देखा कि वह जम्हाई लेकर उठने वाला है कि और भी उससे चिपट गई। सुधाकर को अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ, पर सचाई वही थी, जिसे वह आँखों से देख रहा था।

तुम्हारे बिना

जिंदगी की रफ्तार अचानक धीमी हो जाती है। कहीं कोई ब्रेक लग जाता है। आदमी दौड़ छोड़कर सोचने के लिए विवश हो जाता है। मृत्यु के बाद यों ही कुछ काल के लिए मन विकार रहित रहता है, और फिर विचारों का चक्कर शुरू। उस समय मृतक के जीवन और उससे जुड़ी यादों का अंतहीन सिलसिला भी चलने लगता है।

अमित अभी-अभी अपनी पत्नी को जलाकर लौटा है। लोग कहते थे सुल्तानगंज ले जाने की क्या जरूरत है—स्थानीय घाट ही क्या कम महत्वपूर्ण है, बड़ी-बड़ी हस्तियाँ यहीं जली हैं, पर उसने नहीं माना। उसे कमी ही क्या थी ? गंगा की धारा में अस्थि का अवशेष बहाते हुए उसकी आँखें अनायास नम हो गई थीं। उसने आँसुओं को जबरन रोकना चाहा था, पर वे किसी की परवाह किये बिना ढुलक गए थे। एक ही प्रश्न बार-बार हथौड़े चला रहा था उसके मन-मस्तिष्क पर—'तुम्हारे बिना मेरी जिंदगी का क्या होगा ? किसे बनाऊँ अपने सुख-दुख का साथी और साक्षी ?'

श्राद्ध सम्पन्न हुए एक सप्ताह बीत गया था। वक्त बहुत बड़ा मलहम होता है। उसके प्रवाह में कितने ही दु:ख के घाव आप-ही-आप भर जाते हैं। घावों का भरना और मिटना एक बात है, पर उनका दाग रह ही जाता है। जब कभी उस पर ध्यान पड़ा, फिर उससे जुड़ी यादों का सैलाब उमड़ने लगता है। फिर 'शिप्रा' को मरे मुश्किल से तीन सप्ताह भी नहीं हुए थे। अमित चाय पीने के लिए तैयार था, अचानक उसका ध्यान टी पॉट आदि की ओर गया, जो सब विदेशी थे। वह उठकर अपने शयन-कक्ष में चला गया। अपनी अलमारी खोली, तो वार्डरोब में अपने विदेशी नाइट गाउन के साथ शिप्रा का नीला, लाल, रेशमी नाइटी प्रेस किया लटक रहा था, मानो पहनने वाले का इन्तजार कर रहा हो। पूरा कमरा अजीब आभा से दमक रहा था। एक पर एक बेशकीमती सामान, दीवालों पर पेरिस प्लास्टर, उस पर लगे कामुक चित्र, वक्षों का उभार प्रदर्शन करती प्रसिद्ध फिल्म स्टार का अजब पोज। वह इनमें शिप्रा की खोज कर रहा था। खुजराहो और कोणार्क के सूर्यमन्दिर के अनेक पोर्ट्रेट दीवालों पर लगे थे—बड़े जीवंत। वह वहाँ से खिसकता अपने विशाल गार्डन में चला गया। शिप्रा के मनपसन्द फूलों की क्यारी की ओर। एक-एक फूल खिलकर भी उदास हो गया था। अमित को लगा था कि शायद वे अपने पालनकर्ता की जुदाई में उदासी से घिर गए हैं, पर उसने इस विचार को झटका देकर उड़ा दिया। शिप्रा ने भला इन फूलों की देख-भाल कब की—इन्हें कभी प्यार से सहलाया भी तो नहीं। बस, माली को हुक्म हो गया—'अमुक नर्सरी से इस नस्ल और संख्या के इतने फूल लगाओ।' फिर तो वह भूल ही जाती थी।

हाँ, बीच-बीच में जब उसके घर पार्टियाँ होतीं, सजी-सँवरी आधुनिकाओं का जमघट लगता, तो शिप्रा अपने पुष्पप्यार को जताने उन्हें इस क्यारी तक अवश्य ले आती। इसे दिखाते-दिखाते पूरे बाग की ओर इशारा करती हुई कहती—'पता नहीं इन फूलों से मुझे क्यों इतनी मुहब्बत रहती है। इनके बिना मैं जी नहीं पाती। बिना इन्हें सिंचवाये, देखभाल कराये,

मुझे शांति ही नहीं मिलती।' सहेलियाँ उसकी सुरुचि-सम्पन्नता की दाद देतीं और प्रकृति-प्रेम को जी भर सराहतीं। उस समय सबके बीच वह यों मचलती हुई चलती, मानो वह तारों के मध्य स्निग्ध धवल ज्योत्स्ना हो। 'अमीरी के ये सब चोंचले होते हैं।' दुःख बाँटकर कोई जनप्रिय होना चाहे, तो असम्भव है। कौन ढोना चाहेगा दूसरे के दुःख की गठरी, पर अमीरी का मंडान बहुत जरूरी होता है। उसकी छाया अंग-अंग के अलावा अपने घर, द्वार, बाग आदि से नहीं झाँकने लगे, तो अमीरी क्या? शिप्रा का पुष्पप्यार वैसा ही था।

उसके व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा था, दूसरे पर हावी हो जाना, उसकी अहमियत को यों उड़ा देना जैसे हवा हल्के-फुल्के बादल को उड़ा देती है। इसी बात को सोचते हुए अमित समय की कई सीढ़ियों को लाँघता-फाँदता अपने कालेज के दिनों में पहुँच गया। अमीर रायबहादुर अमरसिंह का इकलौता बेटा अमित पूरे सेंट इरविन कालेज में प्रसिद्ध था। उसकी प्रसिद्धि का कारण उसकी शाहखर्ची भर नहीं था, अपितु उसकी कुशाग्र बुद्धि और विलक्षण प्रतिभा भी थी। वह जितना सुदर्शन था, उतना ही तेज-तर्रार। मजाल था, जो डिबेट में उसके तर्कों को कोई काट सके। किसकी हिम्मत थी, जो उसे सेकेंड कर दे। विनम्रता और शील-सौजन्य का धनी था अमित। लड़के उससे दोस्ती के लिए तरसते थे और वह था लगा अपनी सहपाठिका शिप्रा से दोस्ती गाँठने में।

'शिप्रा! शिप्रा!! शिप्रा!!!'—तीन बार उसने उसका नाम मन-ही-मन दुहराया और लगा कि वह किसी मायावी लोक में खो गया है, जहाँ शिप्रा के रूप सौंदर्य का वितान तना था। भोली-भाली, छुई-मुई-सी, लम्बी छरहरी, कंचन-सी काया, हिरणी-सी आँखों में काजल के कारण अजीब आकर्षण का जादू। एक-एक अंग साँचे में ढला हुआ—बला की सुन्दरी थी वह, उस पर लाज और संकोच का पहरा उसे और भी मोहक बना देता। पता नहीं वह कौन-सी लहर थी, कैसी अज्ञात प्रेरणा थी कि अमित शिप्रा की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाने लगा और वह आकाश कुसुम

की तरह दुर्लभ होती गई। वह उतने अमीर की शहजादी भले ही नहीं थी, पर प्रतिभा उसे पिता से विरासत में मिली थी। उसके पिता सर गोविन्द माथुर अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। शेक्सपियर के ऑथेरिटी माने जाते थे। लक्ष्मी और सरस्वती का साथ मुश्किल से चलता है। शिप्रा के मन-मन्दिर का वही आराध्य हो सकता था, जो शीलगुण सम्पन्न हो, उससे अधिक मेधावी भी हो, जिसका मापदण्ड था उसका परीक्षाफल।

अमित को अपनी मेहनत पर विश्वास था, और शिप्रा को पाने के लिए की गई कोशिश पर भरोसा। उसे यह भी यकीन था कि एक दिन वह उसे अपना बनाकर रहेगा। एक दिन कॉमन रूम में एकांत पाकर अमित ने उसे तौलना चाहा था, उसके मन की गहराई में झाँकना चाहा था।

'मैंने कितनी बार प्रयास किया कि तुमसे जमकर बातचीत करूँ, अपने दिल को खोलूँ और तुम्हारी सुनूँ....'

'बस, बस बन्द करो बकवास अमित। मुझे मत भरमाइये। किस बिंदु पर तुम मुझे अपना कहना चाहते हो ? क्या रिश्ता है तुमसे हमारा ? यही न कि मैं युवती और तुम युवक !'—यह कहकर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। उसकी हँसी में वीणा की झंकार थी। हँसी यद्यपि व्यंग्यात्मक थी, पर उसकी अनुगूंज अमित को भीतर तक आप्लावित कर गई। वह झेंप गया। इतना हाजिर जवाब होकर भी वह चुप रह गया। शिप्रा ने ही बात आगे बढ़ाई। उसे एक नवयुवक को छेड़ने और उससे चुहल करने में मजा जो आ रहा था।

'चुप क्यों हो गये ? खोलो न अपना दिल ! करो न जमकर बातचीत !' फिर हँसी का फव्वारा।

'तुम इन बातों को मजाक में उड़ाना चाहती हो ? कर लो मजाक। किसी की मजबूरी से उठा लो नाजायज फायदा।'

'वाह ! वाह !! क्या खूब। तुरन्त हथियार डालते देर भी नहीं लगती। जरा सुनूं क्या मजबूरी है तुम्हारी ! मुझसे जमकर बात किए बिना तुम्हारे

दिल ने धड़कने से जवाब दे दिया या पढ़ाई-लिखाई पर ताला लग गया या रातों की नींद हराम हो गई ?'

'क्षमा करो, शिप्रा । वह सब हो गया, जो तुम कहती हो और वह भी घटित हो गया, जिसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकती !'

'इतने ही मिट्टी के महादेव हो, तो फिर बहादुरी का सेहरा क्यों बांधे फिरते हो ? अपने आगे किसी को गिनते क्यों नहीं हो ?'

'तुम्हारे आगे किसी को नहीं गिनता हूं । मेरे मन मन्दिर की देवी तुम्हीं हो, बस तुम्हीं ! तुम्हारे कृपाकटाक्ष से मेरी जिंदगी सार्थक होगी ।'

'तुम्हारा मन मन्दिर है—यह तो सही है, पर देवी मैं नहीं हूं—यह भी सही है । अच्छा हो, जो सचमुच की देवी है, उसे दिल में बिठा लो ।'

'मेरी भावना पर कुठाराघात मत करो, शिप्रा ! मेरे प्रस्ताव पर ठंडे दिल से सोचो भी । मेरा भविष्य तुम्हारे संकेत भर पर निर्भर है ।'

'परीक्षाफल निकल जाने दो, फिर देखा जाएगा ।'

अमित को निधि मिल गई थी । सफलता हाथ चूमने लगी थी । उस दिन वह बहुत खुश हुआ था—इतना कि पागल हो उठा था । उस रात उसे नींद नहीं आई थी । वह जगे-जगे सपना देखता रहा था । अपने एक-एक अरमान चुनकर इकट्ठा करता और देखता शिप्रा के साहचर्य से वे किस प्रकार खिल उठते हैं । उसकी कल्पनाओं का संसार वास्तविकता की धरती पर पाँव रखने वाला था । उसकी जिंदगी अब सही अर्थ तलाशने जा रही थी ।

उस दिन सोमवार था । अवकाश के बाद का दिन । लगभग ग्यारह बज रहा था । सड़कों पर अपार मेला । गर्मी का मौसम । सूर्य पंचाग्नि बरसा रहा था । पसीने से लोग लथपथ थे, फिर भी भागे जा रहे थे । लगता था गर्मी से वे निर्विकार हो, बिल्कुल तटस्थ रेस के घोड़ों की तरह बेतहाशा दौड़ रहे थे । जो स्थिर थे, वे भी घोड़ों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर दौड़ रहे थे । अमित सोचने लगा—'कितनी तेज हो गई है लोगों की जिन्दगी । दौड़-दौड़, बस दौड़ ! न मंजिल का ठिकाना है और न अपनी

ताकत का अंदाजा, बस कोई भ्रम पाल रहे हैं, किसी महत्वाकांक्षा को जगह दिये हैं। आत्म-प्रवंचना का जाल ही है यह सब।' उसे अचानक ध्यान आया कि वह तो अपना परीक्षाफल देखने जा रहा है। यह भी एक दौड़ की शुरुआत और अंतिम मुकाम है। हाँ, कालेज की पढाई की दौड़ समाप्त—जिन्दगी की दौड़ शुरू, शायद इसी पर शिप्रा के साथ मिलकर अगली दौड़ की तैयारी हो। विश्वविद्यालय के अहाते में पहुँचते ही शिप्रा दौड़ी आई—'बधाई हो अमित, लाख-लाख बधाइयाँ। तुमने टॉप किया है और रिकार्ड भी तोड़ा है।'

'शुक्रिया ! तुम अपना रिजल्ट बताओ शिप्रा।'

'बस, तुम्हारे बाद मेरा ही नम्बर है।'

'वाह-वाह, कमाल है। दोनों का परीक्षाफल कितना सिलसिलेवार है। बधाई के शब्द नहीं हैं मेरे पास ! सचमुच आज मैं कितना खुश-किस्मत हूँ !'

'शुक्रिया ! मैं भी खुशी से फूली नहीं समा रही हूँ, अमित।'

'अच्छा बताओ शिप्रा, परीक्षाफल तो आज निकल ही गया है। अब मेरे सपनों का क्या होगा ?'

'सपने सच होंगे। तुम्हारा परीक्षाफल सुनते ही पापा तैयार हो जाएँगे। बस, इसका ही इन्तजार था।'

'सचमुच ?'

'हाँ-हाँ, बिल्कुल सच।'

अमित को लगा कि वह सारा दृश्य साफ-साफ देख रहा है। वक्त की धुन्ध में कहाँ कुछ बदला है ? सब कुछ इतना ताजा, इतना स्पष्ट है कि आज की घटनाएँ हों। वह अजीब स्थिति से गुजर रहा था। पर, मन को समझाने, उसे तोष देने के लिए यह चिंतन बड़ा जरूरी और अपरिहार्य लग रहा था। वह किसी तेज धारा में बह रहा था, धारा के विरुद्ध कुछ भी करना संभव नहीं था।

रायबहादुर साहब का इकलौता पुत्र और उधर प्रोफेसर साहब की इकलौती बेटी। बड़ी धूमधाम के साथ विवाह हुआ। सबके मुँह से एक ही बात निकलती, सोने में सुहागा मिल गया है। लोगों की बात ठीक ही हुआ करती है क्या—अमित यह सुनता, तो सोचने लगता। आशीर्वाद स्वरूप प्रोफेसर गोविन्द माथुर ने कहा—'अमित होनहार युवक है। यह ऊँची शिक्षा के लिए विदेश जाएगा। उपलब्धियाँ इसके पाँव चूमेंगी। बेटी, तुम इसके साथ रहकर केवल बहू भर नहीं रहना, अपनी प्रतिभा को जगाये रखना, दोनों कुल का नाम रोशन करना। दोनों को मेरा यही आशीर्वाद है।'

संसार अपनी गति में चल रहा था, अमित अपनी गति में। उसे प्रोफेसर साहब की भविष्यवाणी साकार करने में देर नहीं लगी। साल भर में ही वह विदेश चला गया। विदेश जाने के पूर्व वे लोग मसूरी चले गये हनीमून मनाने। पूरे छः महीने रहे। लगा कि वे छः दिन में लौटे हैं। सुख की घड़ियाँ ऐसे ही कट जाती हैं, हाथ से फिसलती जाती हैं और पता भी नहीं चलता।

परस्पर समा जाने की बलवती इच्छा—उसको क्रिया का रूप देना। रात-रात भर प्रेम-प्यार, मानमनुहार की बातें—दो शरीर एक आत्मा—परस्पर पूरक। एक सूत्र, तो दूसरी व्याख्या—एक स्वप्न तो दूसरा उसे यथार्थ करने को तत्पर। एक ललित निबंध तो दूसरी कविता। प्रेम की धारा उन्हें बहाये जा रही थी। बरसाती नदियाँ उफनने वाली होती हैं, पर उनका उफान क्षणिक होता है मौसम भर, पर जिसने सदा-नीरा नदियों को कभी देखा ही नहीं हो, उसे तो उन नदियों का दमखम ही काबिले तारीफ लगता है।

उधर अमित विदेश गया। इधर शिप्रा ने पढ़ाई-लिखाई से नाता तोड़ दिया। घर में अमीरी थी ही—श्वसुर के संरक्षण की विशाल छाया थी। उसने मन बहलाने के लिए महिला क्लबों में जाना शुरू किया। संगीत, नृत्य में उसे महारत हासिल थी। कालेज के दिनों में बराबर इन प्रति-

योगिताओं में शील्ड जीतती आई थी। महिला क्लबों से बढ़कर वह अन्य क्लबों की सदस्या बनी। उसके सौन्दर्य, चाल-ढाल, आभिजात्य, कला की प्रशंसा करने वाले बहुत थे। धीरे-धीरे उसके पुरुष मित्र बढ़ने लगे। मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है उसकी प्रशंसा। अपनी प्रशंसा सुनकर वह अंधा हो जाता है, फिर विवेक और नीति का ध्यान नहीं रहता। नारियां भले ही कुरूपा हों, अपने सौन्दर्य की तारीफ सुनकर वश में नहीं रहतीं। शिप्रा तो अनन्य सुन्दरी थी। पुरुष नारियों को वश में करने के लिए इस अस्त्र का उपयोग बड़ी कुशलता से करते हैं। उसके श्वसुर को संतोष मिलता कि बहू इतने दीर्घ वियोग को मन बहलाकर किसी प्रकार काट तो रही है। अमित का पत्र आता—'मैं तुम्हारे साहस और धैर्य की प्रशंसा किन शब्दों में करूँ, लिख नहीं पाता। मुझे खुशी है, तुम क्लबों के द्वारा कुछ सामाजिक काम कर रही हो और अपना मन बहला रही हो। तुम पर मेरी अखंड आस्था है।'

मानव मन के अन्य केन्द्र उतनी आसानी से न प्रभावित होते हैं और न उन्हें उत्तेजित ही किया जा सकता है। सेक्स केन्द्र को प्रभावित करना बड़ा आसान है। चाक्यचिक्य, आकर्षक वेशभूषा और विपरीत यौन का मधुर मादक निमन्त्रण नारियों को वासना के कर्दम में गहरे और गहरे फँसाता चलता है। शिप्रा इस प्रवाह में निढाल बहने लगी। शील, मर्यादा के तट टूट चुके थे, आँखों का पानी मर चुका था। एक व्यसन ने धर दबाया कि उसके सहचर साथ ही लगे रहते हैं। सेक्स के साथ सुरा न हो, तो बची-खुची लोकलज्जा को छिपाया कैसे जाये? शिप्रा रात गए नशे में धुत्त आती और अपने कमरे में सो जाती। रायबहादुर को अपनी पतोहू पर इतना भरोसा था कि वहाँ शंका की कोई गुंजाइश नहीं थी।

अमित बिजनेस मैनेजमेंट में डॉक्टरेट कर लौट आया। हवाई अड्डे पर उसका भव्य स्वागत हुआ। एकदम आधुनिक बनी मॉड शिप्रा भी फूलों का गुच्छा लिये पहुँची थी। एक बार अमित की आँखें उसे देखकर चौंधिया गईं। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ, पर फिर उसने अपने को

सम्भाल लिया। शायद उसके मन की कल्पना सुन्दरी भी ऐसी ही थी। वह प्रसन्नता से खिल उठा और एकांत पाकर उसके कान में फुसफुसाया—'तुम परी लग रही हो। मेरा रोम-रोम गद्‌गद् हो गया है। ईश्वर तुम्हें ऐसा ही रखे।' शिप्रा निहाल हो उठी, उसे अपने क्रियाकलापों के औचित्य का प्रमाण-पत्र मिल गया। दोनों फिर अपनी दुनिया में खो गये।

हवाई अड्डे पर ही रायबहादुर के एक घनिष्ठ मित्र (जो बड़े उद्योग-पति थे) ने अमित को अपनी फर्म का डाइरेक्टर बना दिया। पाँच हजार रुपये मासिक, अर्दली, दो गाड़ियाँ, फर्निश्ड बँगला, बड़ा लॉन। महीने में पन्द्रह-बीस दिन विदेश की यात्रा, उसका अलग भत्ता। दूसरे दिन ही उसने अपना पद सम्भाल लिया। अपनी पूरी निष्ठा और ईमानदारी से वह काम में लग गया। फर्म की उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी—उसके उत्पादन ने विश्व के बाजार में अपनी धाक जमा ली। वह ख्याति का आसमान छूता गया।

अमित घर लौटता, थका-माँदा, आराम के लिये, दो मीठी बातें सुनने-बोलने के लिये, पर शिप्रा अनुपस्थित। पता चलता—'आज मेम साहब के क्लब में कैबरे है। आपके लिये कार्ड छोड़ गई हैं। रात एक तक शायद लौटें।' वह कार्ड की ओर देखता भी नहीं और अपने बेडरूम की ओर बढ़ जाता। कुछ देर रिकार्ड प्लेयर, टी० वी० आदि से मनोरंजन करता, थका रहता ही था, सो जाता। शिप्रा लौटती—आने के साथ आसमान सिर पर उठा लेती—सबको डाँट-डपट। तब तक अमित जाग चुका होता, पर सोने का बहाना बनाये रहता। बड़ी उत्सुकता से इन्तजार करता, जैसे चिरविरही पति करता है। वह उसकी एक-एक मुद्रा का ख्याल करता। शिप्रा उसे सोया जानकर निश्चिन्तता का अनुभव करती और उस विशाल पलंग के एक ओर सो जाती। उसे कुछ ही देर बाद नींद धर दबोचती।

अब अमित को रात आँखों में काटनी पड़ती। वह चाहता कि अपनी पत्नी को जगाये, कुछ बातचीत करे। दिन भर का हाल-समाचार सुनाये-सुने, पर वहाँ चेतना खोई लगती। उसके मुँह से शराब की तीखी गंध निकलती। अमित एक दिन अपने को रोक नहीं सका, उसकी भी अपनी जिस्मानी जरूरत थी, कोई अर्ज था। उसने झकझोर कर जगाया उसे।

उसने हल्की अंगड़ाई ली और अमित को अपनी बाँहों में कसकर सो गई। उसने उसे फिर झकझोरा। काफी कोशिश के बाद वह जगी और आक्रोश से बोली—'तुम लोगों पर बराबर पशुता सवार रहती है। कुछ मेरी स्थिति का भी ख्याल करो।'

'क्या कहती हो डार्लिंग ? आफिस में तुम्हारी यादों में खोया रहता हूँ। यहाँ आकर तुम्हारे इन्तजार में एक-एक पल मुश्किल से काटता हूँ। उस पर तुम्हारी यह बेरुखी भला कैसे सही जाये ?' वह बड़ी विनम्रता से बोला।

'माफ करना अमित। मैं तुम्हारी पत्नी भर नहीं हूँ, समाज के प्रति मेरे कुछ दायित्व भी हैं। क्लबों के द्वारा मैं सामाजिक चेतना को सही दिशा देती हूँ, दिशाहारा को राह दिखाती हूँ।' यह कहते उसकी वाणी लड़खड़ा रही थी। लगता था, किसी गहरे कुएँ से आवाज आ रही है।

'तुम्हें मैं दिन भर में अठारह घंटे मुक्त रखता हूँ। छः घंटे तो मेरा साथ दो डार्लिंग।'

'देखो, मुझे अधिक तंग मत करो। मैं खुद थकी रहती हूँ।'

अमित जब कभी देह धरातल पर उससे मिलना चाहता, उसे लगता कि शिप्रा संतृप्ति की अवस्था में पहुँच गई है। वहाँ न कोई ऊष्मा है और न उत्कटता ही। उसे लगता कि शिप्रा अब नारी नहीं रह गई है, उसका नारीत्व कहीं गुम हो गया है और उसके भोग्या का कहीं बराबर उपयोग हो रहा है। वह अजीब घृणा और कड़वाहट से भर जाता। उसके पूरे शरीर में बर्फीली हवा दौड़ जाती—वह एकदम ठंडा हो जाता। वह क्रोध कर अपनी दूरदर्शिता की खिल्ली उड़ाना नहीं चाहता था। उसे शिप्रा के प्रति तरस आती थी—कभी-कभी वह भीगी आँखें लिये ही रात काटने का मंसूबा बाँधता।

लॉन में टहलते-टहलते वह सोचने लगा—'उसके बिना मेरी जिंदगी के मरुभूमि होने का सवाल कहाँ उठता है ? जब तक शिप्रा जीवित रही, अपने पूरे वजूद में, पूरे अस्तित्व में कहाँ तक मुझे भागीदार बना पाई ? मैं उसकी उपस्थिति में भी उसके बिना जिंदगी घसीटता रहा और अब तो कुछ सोचना ही बेकार है।' तब तक उसकी सतरह वर्षीया बेटी स्निग्धा लॉन में आती दिखाई पड़ी। वह एकबारगी चिंतित हो उठा कि कहीं इस पर भी शिप्रा की मनहूस छाया का असर न पड़ जाये।

()

ऐन वक्त पर

एम० ए० पास करते ही मैं वाराणसी में अंग्रेजी का प्रोफेसर हो गया था। अध्यक्ष की मुझ पर असीम कृपा थी। उन्हीं की अनुशंसा मुझे नियुक्ति दिला सकी थी, वरना बेरोजगारी के इस युग में पता नहीं कितने पापड़ बेलने पड़ते। मैं अपनी तत्कालीन व्यवस्था से खुश था और जानता था कि मुझे इसी में जीवन लगाना है। मैंने अपना स्नातकोत्तर शिक्षण भी इसी-लिए प्रारम्भ किया था कि मुझे कॉलेज में पढ़ाना है।

उस दिन बारह पचास पर मेरा ही वर्ग था। विशेष पत्र का घंटा था। मैं शेक्सपीयर के दुखांत नाटकों के नायकों की कमजोरियों पर प्रकाश डाल रहा था। मैंने अपने व्याख्यानों के दौरान बताया कि किस प्रकार वे मानवीय गुत्थियों और जटिलताओं की गहराई से अनभिज्ञ होने के कारण षड्यन्त्र का शिकार बनते हैं और दुःखांत नाटकों का कारण भी। मैं ऑथेलो से लगातार उदाहरण देकर अपनी बात सिद्ध करने में लगा था। मैं तन्मय हो गया था। अखंड शांति थी—अपनी धड़कन भी साफ-साफ

सुनाई पड़ सकती थी। मैं अतीन्द्रिय लोक में बहा जा रहा था—व्याख्यान और व्याख्याता का भेद मिट गया था। मैं जान ही नहीं पाया कि पचास मिनटों का घंटा कब बीत गया।

मेरा ध्यान मीनाक्षी ने तोड़ा 'एक्सक्यूज मी सर, समय हो गया है। क्या अगले सप्ताह मेरे दो सवालों के उत्तर देने की कृपा करेंगे?' मैं सोते से जगा, मेरी चेतना लौट आई। सामने रूप-राशि की साकार प्रतिमा उस युवती को देखकर मैं ठगा-सा रह गया। उसकी आवाज में अजीब मोहिनी शक्ति थी। मैं खिंचता चला गया। यद्यपि पिछले दो वर्गों में मैंने उसे देखा था, पर उसने तब मुझे कहीं छुआ नहीं था। कौन जानता है कि किसी के प्रति आकर्षण और आत्मीयता की कोपलें फूटने का क्या कारण है। मैं उसे कोई उत्तर भी नहीं दे पाया। उसने अपना प्रश्न पूछकर मुझे एक बार जी भर निहारा था, मानो मुझे पढ़ना चाहती हो और स्मित-हास्य बिखेरते हुए चली गई थी।

यह मेरे संस्कार के खिलाफ था कि मैं उसे बुलाकर वार्तालाप करता। एक तो मैं उसका गुरु था, दूसरे, अपने को उससे अधिक बुजुर्ग समझता था और यह समझ वाजिब भी थी।

सामान्य वर्ग में उसे दो-तीन बार अवश्य देखा था। उस वक्त उसमें अपेक्षाकृत अधिक गम्भीरता थी और अपने में ही सिमटे-सिकुड़े रहने का भाव था, फिर भी वह अनिंद्य सुन्दरी लग रही थी और उसकी रूप-गर्विता पता नहीं क्यों मेरे पौरुष को ललकार रही थी। मैं बार-बार आहत होता और साहस जुटाकर उसे परास्त करने का संकल्प लेता। इधर व्याख्यान चल रहा था—रोमांटिक इरा पर। नहीं चाहकर भी (जो इतिहास अध्यापन में वांछित नहीं) मैं उसके काव्य पक्ष पर विरमने लगता और पता नहीं प्रेम पर कितना कुछ कह जाता। एक बार, जहाँ तक मुझे अच्छी तरह याद है, उसने मुझे कनखियों से देखा था और फिर नजरें झुकाकर मुसकराने लगी थी, मानो वह अहसास कराना चाहती थी कि लाल बुझक्कड़ से किसी भाँति कम नहीं है।

मैं उस घड़ी की बेसब्री से प्रतीक्षा कर रहा था, जब एकांत पाकर उससे बातचीत की जाए। बतरस का आनन्द ही और होता है और उसकी इन्तजारी उससे भी अधिक आनन्ददायक। परकीया भाव का प्रेम जरा अधिक ही उत्तेजक होता है।

दिन कैसे बीत रहे थे—स्वयं मैं नहीं जानता था। मैं कई-कई घंटे मीनाक्षी के बारे में सोचता हुआ पड़ा रहता। मुझे लगता कि वह अपनी है, मेरी ही है—आत्मीयता की यह सुरभि मुझे भीतर तक सुवासित कर देती। उसके होने का अहसास भर मुझे अजीब उष्णता और मादकता से भर देता।

उस दिन रविवार था और अगले दिन ही विशेष पत्र का घंटा था। मैं जरा देर से उठा था। रात मन बहलाने एक अंग्रेजी फिल्म देखने चला गया था 'ब्लो हॉट, ब्लो कोल्ड'। फिल्म के संभोग-दृश्यों से मुझे वितृष्णा हुई। खुले-आम उनका प्रदर्शन दिखाया गया था। इसे तथा-कथित सभ्य देश प्रगतिशीलता का सूचक भले ही मानते हैं, परन्तु इससे उनका सेक्स मरता जा रहा है, उसके प्रति अरुचि पैदा होती जा रही है और तज्जन्य ठंडापन भी। दिन के नौ बजे होंगे। तब भी मैं अलसाया हुआ था और फिल्म के कुछ दृश्यों की धुंधली स्मृति ओढ़कर लेटा हुआ था। चाहता था कुछ घंटे पड़ा रहूँ। एक छिपकली दीवाल पर धीरे-धीरे सरक रही थी, दाँव-पेंच लगाकर एक कीड़े को उदरस्थ करना चाहती थी। जीव तो जीव का भोजन होता ही है—यह सोचकर मैं कुछ काल के लिए अप्रतिभ हो उठा और मनुष्य की अमानुषिकता के प्रति घृणा से भर उठा।

पता नहीं, सुधियों की कौन-सी बयार आई कि मीनाक्षी मन के सामने आ खड़ी हो गई। मेरा ध्यान उसी ओर चला गया। उसका भव्य और पवित्र मुखमंडल, यौवन की उत्ताल तरंगों पर दोलायित उसका मन, वीणा की झंकार जैसी आवाज—सब मुझे भिगोने लगे। लगा वक्त थम गया है।

घड़ियाल ने ग्यारह का घंटा बजाया, तब मेरा ध्यान टूटा। लगा, मैं स्वप्न से जागा हूं। तब तक मेरा नौकर नागो दौड़ता आया—'सर!

एक लड़की आई है। पूछती है, सर हैं? क्या कहूँ?' अचानक मेरे मानस मुकुर पर मीनाक्षी का चेहरा झाँक उठा, पर मैंने इस भाव को जबरन दबा दिया—'भला वह क्यों यहाँ आए?' मैंने उससे कहा—'तुम्हें नाम पूछ लेना चाहिए।' वह भागा गया और आकर एक चिट मेरे हाथों में थमा दी—'मीनाक्षी, पंचम वर्ष, अंग्रेजी, क्रमांक १०२, काम—पढ़ाई।' मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। मेरी आँखें कानों तक फैल आयीं। मैंने उसे ड्राइंग-रूम में बैठाने को कहा।

तैयार होकर जब मैं ड्राइंग रूम में पहुँचा, तो उसे मानसिक रूप से असंतुलित पाया। वह अंगूठे से कालीन रगड़ रही थी और कलम से कागज पर आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींच रही थी। मुझे देखकर वह अभिवादन में खड़ी हो गई और विश करते ही लजा गई—उसके कान तक लाल हो गए। नये प्रोफेसर और एम० ए० में पढ़ने वाली छात्रा में वय का अंतर नहीं के बराबर होता है। आज षष्ठ वर्ष में पढ़ने वाला छात्र कल पंचम वर्ष का प्रोफेसर हो जाता है। मेरे साथ भी वही बात थी। अभी मेरी नियुक्ति नई थी। अतः उससे मुलाकात भी नई। उसके प्रति आकर्षण का ज्वार मुझे बहाए जा रहा था, पर रह-रह कर गुरु-रूप मुझ पर सवार हो जाता। उसका सलज्ज रूप देखकर मुझे अपनी मधुयामिनी की रात याद आने लगी, जब वीणा लाज से सिमटी-सिकुड़ी गठरी-सी बनी एक कोने में चुपचाप पड़ी थी। कितनी कोशिशों के बाद उसे मुखर किया था मैंने। कमरे के कैलेंडर में शिव-पार्वती अर्ध-निमीलित नेत्रों से शायद गुरु-शिष्या को देख रहे थे। मैंने स्थिति सँभालने के लिए कहा—'बैठो मीनाक्षी! इतने संकोच की क्या जरूरत! तुम क्या किसी इंटरव्यू में आई हो, जो इतना नर्वस हो रही हो!……तुम्हारी सारी समस्याएँ मैं हल कर दूँगा। तुम प्रकृतिस्थ हो लो पहले।' उसने बड़ी मुश्किल से हकला कर कहा—'यस सर!' फिर चुपचाप दीवाल की ओर देखने लगी। मैंने इधर-उधर की बातों से उसे संतुलित करने का प्रयत्न किया। कुछ देर की अनौपचारिक बातचीत से ही उसका संकोच जाता रहा। नारी के मन की गाँठ एक बार

खुल जाए, तो फिर वह किताब की तरह खुल जाती है। पुरुष का आश्वासन और आश्रय की आशा उसमें प्रेरणा और संबल भरते हैं।

फिर घूम-फिरकर वह अपने विषय पर आ गई और मैंने अपने ज्ञान से उसे भरसक संतुष्ट करने की कोशिश की। मेरे अक्षर-अक्षर को यों पीने लगी, मानो पपीहा स्वाती की बूंद पी रहा हो। उसका चेहरा तृप्ति से भरा था। मुझे भी अपने आप पर गर्व हो रहा था।

मैं बनारस में अकेला रहता था। खाना सेवक बनाता था। मेरी यायावरी को पूरा अवकाश था। न कभी मीनाक्षी ने मेरे विवाह के बारे में पूछना चाहा और न मैंने ही बताना उचित समझा। वह मानकर चल रही थी कि मैं कुंवारा हूँ और उसी की जाति का हूँ। कहीं उसके मन में आशा की लौ थरथराती होगी कि वह मेरे जीवन का अभिन्न अंग हो जाए। उस दिन मेरी ओर से आश्वासन और अपनत्व पाकर वह मुझ पर अधिकार जताने लगी थी। क्लास लेकर मैं ज्योंही घर आने के लिए स्कूटर स्टार्ट करने लगा कि वह दौड़ी आई और अधिकार-भरे स्वर में बोली—'मैं भी चलूंगी तुम्हारे साथ, तुम्हारे घर। क्या डर लगता है तुम्हें ?' 'तुम' का अपने लिए उससे पहली बार संबोधन सुनकर मैं 'अवाक्' रह गया— ऊपर से क्रोध प्रकट करना चाहा, पर भीतर गुदगुदी लग रही थी। काश, वीणा भी इसी 'तुम' से मुझे नहलाया करती, फिर भी उसके प्रति मेरी आस्था की लौ जरा भी नहीं थरथराई, कंपी। मैं एक तिलिस्म का दरवाजा खोलना चाहता था और जानना चाहता था कि आखिर इसमें क्या है। पुरुष नारी को तिलिस्म ही मानता आया है।

वह मेरे साथ बैठकर मेरे घर आ गई। वहीं खाना खाया और बगलवाले कमरे में नौकर से तीन-चार पत्र-पत्रिका लेकर पढ़ने के बहाने सो गई। सोकर उठते ही उसने मुझे जगाया और कहीं घूमने का प्रस्ताव रखा। मैं तैयार हो गया। लगा, मेरी इच्छा-अनिच्छा कोई अर्थ नहीं रखती।

जब हम लोग गंगा के किनारे बालू पर बैठे थे, वह मेरी ओर करुण दृष्टि से देखने लगी, उसकी करुणा मुझे भीतर तक बहा ले गई। मैंने शरीर

के धरातल पर उसे कभी कोई लिफ्ट नहीं दी थी। कभी उसके किसी अंग को भूल से छुआ भी नहीं था। मैं उसे अपनेपन से अवश्य भरता था, पर बराबर एक दूरी बनाए रखता था। वह प्रचलित कथा-कहानियों के आधार पर इसे मेरा संकोच और पिछड़ापन समझती थी या अपने प्यार की उष्णता में कमी। कभी-कभी वह मेरे इतना निकट आ जाती थी कि शरीर से सट जाएगी, पर मैं सावधान रहता। मेरा गुरु और अभिभावक का रूप ही सदा मुखरित रहा—यह उसके लिए अवश्य पहेली बनता गया। शायद, उसे विश्वास था कि युवती का एक कटाक्ष ही युवक को घायल कर देने के लिए काफी है, पर उसका विश्वास बराबर लड़खड़ाता रहा। उसकी करुण-दृष्टि से प्रभावित होकर मैंने धीरे-धीरे उसके माथे पर हाथ फेरा, पीठ सहलाई। मेरे हृदय की वृत्तियों का द्वार शनैः-शनैः उन्मुक्त होने लगा। मैं एक प्रवाह में बहता गया। फिर बालों में उँगलियाँ फँसा-कर खेलने लगा। मैं नहीं जानता था मैं क्या कर रहा हूँ, पर उससे मीनाक्षी पर पड़ रहे प्रभाव से सद्यः आप्यायित होता जा रहा था। उसकी अजीब दशा थी। वह एक छोटी बालिका के समान गुरु से सटती हुई फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने रुलाई रोकने की चेष्टा नहीं की। बादल को बरस जाने दिया। उसका मानस क्षितिज शारदीय आकाश के समान निर्मल हो गया। मेरे उकसाने पर वह फूट पड़ी—'मुझे अपना बना लो राकेश, मैं तुम्हारे लिए ही बनी हूँ।' एक सुन्दर युवती का आत्म-समर्पण मेरे पौरुष की खुली विजय थी। मेरा पौरुष मुस्कराया, मुस्कराता रहा—अपनी विजय पर सीना ताने खड़ा रहा। मन ने चाहा पाँवों पर पड़े फूल को माथे से लगा लूँ। मान जाऊँ उसका निवेदन। लगा कामनाओं की अनंत कथा विराम पानेवाली है। पर ऐन मौके पर यादों का एक हल्का झोंका मुझे बहा ले गया—दूर बहुत दूर—वीणा के पास। वह मेरे साथ खिंचती आ गई। खड़ी हो गई दोनों के बीच। एक के साथ गत सात वर्षों के दीर्घ साहचर्य का बल था। उसका वात्सल्य था—दो बच्चों की माँ—करुणा की मूर्ति वीणा। हृदय की संपूर्ण वृत्तियों का द्वार खोल मेरा अभिनंदन

कर रही थी—'आओ मेरे देवता ! पूजा के फूल मुर्झा गए, पर प्रतीक्षा का देवता नहीं पिघलेगा क्या ? साधना की डगर दौड़ती चलेगी और साध्य के देवता का पता नहीं चलेगा क्या ?' प्यार भरा निमंत्रण, समर्पण ही समर्पण, सेवा त्याग की साकार प्रतिमा वीणा। दूसरी ओर यौवन की मादकता बिखेरती हुई उद्दाम नदी को संयम का प्रवाह चाहिए, उसका उपभोग करने वाला प्यासा चाहिए। एक एम० ए० की मेधावी छात्रा और एक पहली जमात तक पढ़ी—मुश्किल से चिट्ठी बाँचने वाली। एक में प्रगल्भता, दूसरे में लज्जा का मार्दव। एक अधिकार पाने को उद्धत, दूसरा अपने को खोने मिटाने को तत्पर।

दोनों चेहरे एक साथ आने लगे—गड्डमगड्ड होने लगे। कभी-कभी दोनों चेहरे मिल जाते—अलगाना कठिन हो जाता। पर जो मेरे मन प्राणों में समा गई थी, भेद मिटाकर अभेद हो गई थी, उसे खोजना कठिन नहीं था। इस बार 'ऐन वक्त पर' वीणा को हाथ पकड़कर उठा लिया मैंने। और मीनाक्षी की ओर मुखातिब होकर कहा—'यह सब तुम्हारा स्वप्न है मीनाक्षी। असंभव, बिल्कुल असंभव। मुझे क्षमा करो मीनाक्षी !'

०

कनफेशन

रात जवानी पर है। उसकी जवानी के साथ-साथ शराब का दौर तेज होता जा रहा है। हॉल की नीली मद्धिम रोशनी में सब कुछ अस्पष्ट है भविष्य जैसा। फिर भी नृत्य चल रहा है। मुझे मृणालिनी उठाती है। आँखों-आँखों में इशारे चलते हैं। वह एक जाम थमाती है और एक अपने हाथ में लेकर सोफे पर मेरे साथ धँस जाती है। दोनों के शरीर सट रहे हैं। उसके शरीर से इत्र की गंध निकल रही है। शायद कोई इंपोर्टेड इत्र लगाई हो। उसकी आँखों में लाल डोरे साफ-साफ दिखाई दे रहे हैं। लोकट ब्लाउज और देह की अर्द्धनग्नता मुझे संकोच में डाल रही है। वह जिद्द मचाए है—'जल्दी से पीना शुरू करें और नृत्य का एक दौर हो जाए।' संगीत की कोई हल्की धुन बज रही है। स्वर-लहरी वातावरण में वितान तान रही है। मेरा ध्यान मीना की ओर चला जाता है। वह मुझे लगातार घूर रही है। वह सुन्दरता और स्मार्टनेस में मृणालिनी से कहीं कम नहीं है। वह जानती है, वह कभी मेरी सहपाठिनी थी, जिसकी

प्रशंसा करते मैं नहीं अघाता था। मेरी पत्नी मीना शायद जानना चाहती हो कि मैं मृणालिनी से किस धरातल पर जुड़ा हूँ। सावधान हूँ मैं।

मृणालिनी ने धीरे-धीरे मेरे साथ सिप करना शुरू कर दिया है। उसकी शोखी आँखों से छलक रही है। उसे किसी की परवाह नहीं है। शायद शराब असर करने लगी है या कुछ है, जो उसे बहाए जा रहा है। मैं नृत्य में उसका साथ दे रहा हूँ। एक-एक स्टेप एकदम नपातुला, मानों वर्षों से साथ-साथ रिहर्सल होता रहा है। संगीत जब प्राणों में समा जाए, उसका अभिन्न हिस्सा बन जाए, तो फिर किसी साधना की जरूरत नहीं होती। वातावरण पूर्णतः संगीतमय हो गया है। संगीत की धुन पर थिरकते दो जोड़े पैर लगता है एक हो गए हैं। और जोड़े भी नृत्यरत हैं, पर परवाह किसे है। नृत्य की लय त्वरा में है—संगीत का स्वर तेज हो गया है। सब नाच रहे हैं—नृत्य के साथ एक होते जा रहे हैं कि अचानक बिजली गुल हो जाती है।

सिंहनी की तरह झपटती है मीना मेरी ओर। और मुझे बाँह पकड़ कर एक ओर खींच लेती है। मेरी तन्मयता भंग कहाँ हुई है। मेरी पलकें भारी हैं। पाँव अब भी थिरकते महसूस हो रहे हैं। मृणालिनी उसी रौ में बही जा रही है। उसे पता भी नहीं है कि मैं अलग हो गया हूँ। वह कुछ काल तक मेरे प्रकृतिस्थ होने का इंतजार करती है, फिर झकझोर कर कहती है—

—'सुनते हो जी, अरे बहरे हो गए हो ?'

मैं हक्का-बक्का सा देखता हूँ उसे और बमुश्किल कह पाता हूँ—

—'क्या बात है ? तुम इतना घबरा क्यों गई हो ?'

'बेईमान, धोखेबाज। कहता है घबरा क्यों गई हो......मेरी जिन्दगी के साथ खिलवाड़ करने वाला........!'

क्रोध से उसका चेहरा लाल हो गया है। उसकी नसें फड़कती लग रही हैं। वह काँपती जा रही है। लगता है अब गिर पड़ेगी। मैं उसे थामना चाहता हूँ। वह मेरा हाथ झटक देती है।

'खबरदार ! जो कभी मुझे छूने की कोशिश की........।'

'आखिर बात क्या है, जो तुम इतना बके जा रही हो।' मैं आक्रामक होने लगा हूँ, पर वस्तुस्थिति जानने के लिए बेताब हूँ। कहीं ऐसा तो नहीं है कि मृणालिनी के साथ उतना तन्मय होकर नाचते देख इसके मन में किसी सन्देह ने सिर उठाया है। मैं अपने आपको धिक्कारने लगता हूँ—'क्यों इतनी प्रशंसा करता था मृणालिनी की।'

मैं तीर की तरह उस हॉल से निकलता हूँ। मीना भी साथ-साथ आ रही है। लगता है कि अब वार करेगी कि तब। मैं सब कुछ झेलने और उत्तर देने के लिए अपने को तैयार कर रहा हूँ। मेरी हालत उस बैल की तरह हो गयी है, जो अपने प्रतिद्वन्द्वी पर वार करने के पहले धूल उड़ाता है, पूंछ फटकारता है, पीछे हटता है। मैं कुछ कहूँ तब तक वही कह बैठती है—

'आज तक तुम मुझे छलते रहे। उतनी अच्छी मंगनी तोड़वाकर मुझे नर्क में डाल दिया.......।'

'आखिर कुछ बोलो भी तो........।'

—'बोलने के लिए रह क्या गया?' यह कह कर वह रोने लगी। लगा वर्षों पुराना आँसुओं का बाँध टूट गया हो। इससे मैंने परिस्थिति की गम्भीरता का अनुमान लगाना चाहा। पर असफल रहा। तब तक मुझे पुकारते मेरे भैया उधर ही बढ़े आ रहे थे। एकबारगी सारा दृश्य मेरी आँखों के आगे नाचने लगता है।

सम्भव है भैया मंजुला की शादी कहीं तय कर चुके हों और दहेज के रुपए के लिए आए हों। उन्होंने मीना से आग्रह के बतौर कहा हो—'आप लोग बड़े आदमी हैं। बड़ा रुतबा है आप लोगों का। मेरा भाई आई० ए० एस० ऑफिसर है, आप प्रोफेसर हैं। क्या उस लड़की का उद्धार नहीं करेंगे, जो उसकी जाई सन्तान है।' मुमकिन है यह भी कहा हो—'कभी कभार सुनील को जाने दीजिए गाँव। मेरी अनुज बधू को कोई यह तो नहीं कहेगा कि वह परित्यक्ता है, अनाथा है।' भैया क्या-क्या कह सकते

हैं—सबका अनुमान मैं लगाता जा रहा हूं। एक-एक चित्र मस्तिष्क में उभरता जा रहा है।

मैट्रिक की परीक्षा मैंने फर्स्ट डिवीजन से पास ही किया था कि मेरे विवाह के लिए दबाव पड़ने लगा। पिता थे नहीं। भैया को अभिभावक होने का अहसास बड़प्पन से भर देता था। वहाँ उन्हें मेरे भविष्य की उतनी चिंता नहीं थी, जितना मेरे बारे में तत्काल बड़ा से बड़ा निर्णय लेने की। इससे उनका तानाशाह खुश होता था। पिता से विरासत में मिला अधिकार सीना तानने लगता था। मैं उस उम्र में अपने बारे में कोई निर्णय लेने का निश्चय भले ही नहीं कर सकता था, पर अपनी इच्छा-अनिच्छा की अहमियत का अर्थ समझने लगा था। पिता की वटवृक्षी छाँह उठ गई थी—इसका गम साल रहा था। भैया में उनका चेहरा तलाशते हुए मैं अविश्वास से भर उठता था कि कब फन उठाकर मुझे डंस ले। माँ निरीह थी—तटस्थ, मूकदर्शिका। उसे मेरे होने का अहसास भर ही सुख देता था—'बेटा जीता रहे बस।'

भगलपुरा गाँव से एक वरतुहार आया। भैया ने 'हाँ' कह दी और माँ को भी अपने पक्ष में कर लिया—'दोनों गोतनी मिल-जुलकर घर का काम-काज संभालेंगी। सुनील तो होनहार लड़का है। शहर के कॉलेज में पढ़ेगा....! मैं उनका इरादा समझ रहा था और माँ की विवशता का राज भी, पर मुझे पंख थे, उड़ने की शक्ति नहीं थी। शब्द अस्त्र मेरे पास था, पर उसे छोड़ना खतरे से खाली नहीं था। पूरा भविष्य खुले आसमान की तरह आँखों के आगे था। पता नहीं वहाँ कौन-कौन चित्र बने, बिगड़े। कब वह बादलों से भर जाए और कब शारदीय निर्मलता, निरभ्रता से।

मैंने पटने के कॉलेज में नाम लिखाया ही था कि शादी करने का आदेश सिर पर सवार हो गया। मैं मेले में बिके बैल के समान जहाँ आदेश हुआ, चला गया। मेरे मन ने विद्रोह का बिगुल बजाना चाहा। शादी को खुलेआम नकारना चाहा। बचपन से पलती महत्वाकांक्षा ने अँगड़ाई ली—भीतर कुछ कसमसाया। आवाज आई, पर वह आवाज नक्कारखाने में

तूती की आवाज बन कर रह गई ।

पग-पग पर मेरे मूक विरोध पर ब्रेक कौन लगा सकता था ? मेरा मौन जहाँ भैया के अहम की ज्वाला में आहुति डाल देता, वहीं विद्रोह का स्वर तेज हो जाता । मैं जानता था भैया मेरी मानसिकता से परिचित थे, पर उन्होंने इस विषय में खुलकर खतरा उठाना वाजिब नहीं समझा ।

विवाह से लेकर मेरे आई० ए० एस० होने और पोस्टिंग तक वक्त का कितना अन्तराल भरता गया—पता ही नहीं चला । मैंने कभी सुषमा को जी भर निहारा तक नहीं । वह कम सुन्दरी नहीं थी । विधाता की अन्यतम कृति कही जा सकती थी, पर उसकी मूर्खता, उसका गँवारूपन मुझे वितृष्णा के सागर में फेंक देते । मैं ऊभचूभ कर बाहर निकलता था । कभी घर आया, तो अक्सर मित्र-मण्डली से घिरा रहता । रात ग्यारह तक संगीत, खेल का सिलसिला चलता ।

घर लौटता, तो अपने पलंग पर खर्राटे भरती पत्नी को पाकर विफर उठता । चाहता पलंग से ठेलकर गिरा दूँ उसे जमीन पर । वह निश्चिन्तता से सोई रहती । फिर मेरा मन कुछ सोचकर रुक जाता और जमीन पर चादर डाल सो रहता । नहीं कह सकता कितनी रातें मैंने आँखों में काटी हैं । उधर भैया सबको कहते फिरते—'भाई हो, तो सुनील जैसा । लक्ष्मण-सा आज्ञाकारी ।' उनकी पत्नी कहती फिरती—'गजब का प्रेम है दोनों जीव में । दिन के आठ बजे तक साथ ही सोये रहते हैं ।'

मेरी पलकें भोर होते-होते बोझिल होती थीं । नींद का दौरा आठ बजे के पहले नहीं टूटता था और सुषमा पर तो हर घड़ी नींद सवार रहती थी । ऐसे भी उसे जम्हाई लेते हुए उनींदी हर घड़ी देखता था । कुछ ऐसा था, जो वक्त बे वक्त आती उबाल को शांत कर देता था । मेरा पशु मुझ पर सवार होकर वह सब हरकतें नहीं कर पाता था । ठीक ऐन मौके पर मेरा विवेक जग जाता । वितृष्णा की पुंज सुषमा मुझे बर्फ के समान ठण्डा कर देती । मेरा पौरुष मुझे ही धता बताने लगता और उसके प्रति मेरी विरक्ति और भी गाढ़ी हो जाती ।

ऐसे शीतयुद्ध से मानों वह बेखबर थी। परिवार में सबके साथ प्रसन्न रहती थी। मुझे अपने कैला बैल की याद आने लगती थी, जिसे कितना ही दुत्कारो—परवाह नहीं। भोजन समय पर मिलता रहे। मैं कह नहीं सकता कि वह कौन-सी कुघड़ी थी—अलस मदिर वातावरण का प्रभाव था या मुझ पर मेरा पशु सवार हो गया था कि मंजुला के आगमन की तैयारी हो गई। बाद में मैं बहुत पछताया, चिल्लाया, अपने को कोसा, पर तब तो तीर-तरकस से निशाने पर लग गया था। इस घटना ने मुझे सुषमा से और भी निस्संग बना दिया था। उसकी यादों का जो भी नामों निशान था, उसे एकबारगी झटका देकर हटा दिया था मैंने।

मसूरी में ट्रेनिंग लेने के दौरान ही मेरा मीना से साक्षात्कार हुआ। वह ऑफिसर्स क्लब के एक फंक्शन में अंग्रेजी की व्याख्याता होने के नाते संचालक बन कर आई थी। मुझे उसका रूप जितना भीतर तक छू गया, उससे अधिक उसकी मेधा, तर्कशक्ति ने प्रभावित किया। सर्वोपरि था उसका आत्मविश्वास। अपने अस्तित्व का सही बोध। उसे जरा भी नहीं लगता था कि कई जोड़ी आँखें उसे मुग्धभाव से देख रही हैं। फूल को लोगों की परवाह हो जाए, तो उसका खिलना मुश्किल हो जाये। वह तो तटस्थ, निस्संग होकर सुरभि बिखेरता रहता है। मेरे मन की बगिया में एक बीज अंकुरित होने लगा था। मीना ने उसे सही समय पर सिंचित कर दिया। मैंने अपनी ओर से पहल करते हुए जब विवाह का प्रस्ताव रखा, उसने ईषत् मुसकान बिखेरते हुए कहा—'विवाह पारस्परिक समझदारी की नींव पर टिकता है। यहाँ परस्पर मिटाना पड़ता है, गलाना पड़ता है और दूसरी ओर एक-दूसरे के अस्तित्व को सहलाना पड़ता है। उसे निर्बाध, मुक्त भाव से फैलने देना पड़ता है।'

मैं उसका उत्तर सुनकर आत्मविभोर हो गया। मुझे मन की मुराद मिल गई थी। कल्पनाओं को खुलकर खेलने का अवकाश मिल गया था। मैंने उत्साह में भरकर कहा था—'मेरा भी ठीक यही विचार है। हमलोग मिलकर और अलग-अलग भी पूर्णता की ओर बढ़ सकेंगे—ऐसा मेरा

विश्वास बोलता है ।'

खुशी के इस प्रवाह में मैंने अपने पूर्व विवाह की चर्चा करना आवश्यक नहीं समझा । फिर गाँव जीवन में पला-बढ़ा आई० ए० एस० होकर मैं बाल विवाह की बात कहकर अपने को हीनता से क्यों भरता ? मीना ने इसकी कल्पना भी नहीं की थी—अतः उसने भी नहीं पूछा । मैंने विधिवत् उससे विवाह कर लिया था और भूल गया था कि किसी गाँव में मेरी विवाहिता पत्नी मेरे नाम की माला जप रही है और बेटी विवाह योग्य हो गई है । उस दिन मेरे विवाह की सालगिरह थी ।

मैंने मीना को सुनाने के ख्याल से भैया की ओर रुख कर कहा—'यह ले जाइए चेक और भूल कर भी कभी इस ओर जो मुँह किया । समझ लीजिये, सुनील मर गया है । सुषमा के लिये तो वह विवाह के दिन से ही मर चुका है—नहीं जानते....चुपचाप रुखसत होइए ।' और मीना की ओर मुखातिब होकर कहा—'शर्मिन्दा हूँ मीना, जो तुमसे छिपाया यह सब । मेरी विवशता थी मीना । तुम सच्चाई जान पाती, तो कभी मेरी ओर उन्मुख नहीं होती । हर्गिज नहीं ।...कभी-कभी जीवन रक्षा के लिए झूठ भी बोलना पड़ता है । सत्य को पचाना पड़ता है ।....मैं एकदम भूल गया हूँ उन्हें । बिल्कुल । वह इतिहास भर है मीना, और कुछ नहीं है ।' वह कुछ विश्वास और कुछ अविश्वास की मिली-जुली नजरों से मुझे देखती है । मैं कहने लगता हूँ—तुम जिस सुनील को देख रही हो, जिससे विवाहित हुई हो—वही असली है, मौलिक है । बाकी जो था अभिनय भर था ।' भैया बड़बड़ाते हुये चले गए हैं । मैं मीना की पीठ सहला रहा हूँ और वह नजरें झुकाये पता नहीं क्या सोच रही है ।

अपनी अपनी नियति

प्रिय अरुण,,

तुम समझते होगे कि मुझसे सदा-सदा के लिए मुक्ति का अंजाम कितना अच्छा हुआ ! एक अपढ़, देहातिन, बेसहारा को सहारा देने के बजाय आजीवन भटकने, तड़पने और तिल-तिल कर जलने के लिए छोड़ना कितना वाजिब है। मैं तुम्हें कुछ कहने की स्थिति में नहीं हूँ, न दया की भीख माँगती हूँ, और न जूठी पत्तल चाटने को लालायित हूँ। अब दोनों का रिश्ता ही कहाँ रहा—तुम इस पार मैं उस पार। मैं विधवा भी हो जाती, तो दैवी विधान को अपनी नियति मान कर आँसू बहा संतोष कर लेती, पर मुझे तुम्हारे जीवित रहते दुनिया को यही दिखाना है कि भले ही मैं तुम्हारे नाम का सिंदूर लगाया करूँ, पर मैं सुहागिन नहीं हो सकती। हर्गिज नहीं। एक परित्यक्ता की जिंदगी क्या किसी विधवा से बेहतर होती है ? विधवा को देख कर लोग तरस खाते हैं और परित्यक्ता को देख कर घृणा से आँखें फेर लेते हैं।

तुमने अनुमान लगाया होगा कि मैं तुझे रिझाने की कोशिश कर रही

हूँ, पर यह तुम्हारा भ्रम है। ऊसर में बीज लग सकता है भला ! बाण पतित पत्थर को बेध सकते हैं क्या, भले ही तरकस खाली हो जाए। तुम्हारी काली करतूत हजार-हजार बिच्छू के डंक बन कर मुझे डँस रही है और मैं जहर उतारने के लिए बेताब हूँ। तुमको मैं क्या कहूँगी—कायर, डरपोक, नमक-हराम। तुम्हारी सूरत से ही मुझे घृणा हो गई।

तुमने सोचा था कि तलाक का प्रस्ताव खुले आम दिया जाएगा, तो मेरे पिता तुम्हारी हालत बिगाड़ देंगे। तेरा जीना हराम कर देंगे। उस दिन तुम्हारे मुंह में ताला जड़ा था क्या, जब मेरे पिता ने अधिकतम बोली देकर तुम्हें खरीद लिया था। उस दिन तुमने नहीं सोचा था कि तुम एक देहातिन और मूर्खा से विवाह करने जा रहे हो। उतना दहेज लेकर भी जब तुम मेरे पिताजी के टुकड़ों पर कुत्ते के समान पलते रहे, शिक्षा पूरी करते रहे, तो तुमने नहीं सोचा कि बेचारा जानवर कुत्ता भी नमकहलाल होता है। पिता जी ने तुम्हारा कैरियर इसीलिए तो बनाया कि तुम उसकी बेटी (अकेली) को जीवन भर ऐश आराम से रख पाओ। तुम्हें उसे खुश करने के लिए अधिक तरद्दुद नहीं करना पड़े।

कितना प्यार जताते थे—'अपर्णा, तुमने मुझे जिन्दगी दी है। तुमने आदमी को इंसान बनाया है। तुम्हारे पिता जी ने मुझे जीने का ठोस आधार दिया है और दिया है प्रेम और ममता की देवी अपर्णा। मैं क्या उऋण हो सकूंगा तुम लोगों से।'' मैं भाव-विभोर होकर सुनती थी। लगता था समय थम गया है, संसार की गति रुक गई है। बस, मैं हूँ और तुम हो—मैं-तुम का भेद कहाँ था ? सप्ताह पर सप्ताह बीतते जाते थे, पर तुम्हारे प्यार की उष्णता में कोई कमी कहाँ आती थी ? फिर जैसे-जैसे तुम बड़े होते गए, शिक्षा में, ओहदे के क्षेत्र में, वैसे-वैसे अपर्णा रूपी जूती तुम्हें कसने लगी, काटने लगी, बेतरतीब लगने लगी। उसे एकबारगी फेंकने का दुस्साहस नहीं कर सके—करते भी कैसे ? कापुरुष तलवार लेकर लड़ने का नाटक कर सकता है, पर सच्ची लड़ाई में उसे भागने के सिवा चारा क्या है ?

तुम्हारे डाइरेक्टर होने पर एक दिन हँसी-हँसी में मैंने पूछा था—"पार्टियों में सुशिक्षिता, प्रगतिशील महिलाओं के बीच भला मैं कैसे टिक पाऊँगी ? तुम्हारा जितना ऊँचा रुतबा, वैसे ही लोग भी तो शामिल होंगे। फिर उनकी मेम साहिबा रहेंगी। मैं हंसों के बीच बगुला बन कर तुम्हारी हँसी ही उड़ाऊँगी।" तुमने बड़े तपाक से मुझे आलिंगनपाश में जकड़ लिया था और कहा था—"संसार की कोई सुन्दरी तुम्हारी बराबरी नहीं कर सकती। फिर मेरे हृदय की रानी का स्थान दूसरा क्यों कर लेगा ?" मेरे मन का चोर, मेरी हीनता कुछ क्षण के लिए मुझ पर हावी हुई थी, पर तुम्हारे उत्तर ने उसे उड़ा दिया था। मैं नहीं जानती थी कि यह सब छल-प्रपंच है। नारियाँ इसी भोलेपन के कारण ठगी जाती हैं और आजीवन क्रूर यंत्रणाओं की शिकार होती हैं। विश्वास करना उन्हें आता है सहज ही और पुरुष इसका नाजायज फायदा उठा लेता है।

मुझमें कौन कमी थी, शिक्षा की ही न ? तुमने कब कोशिश की कि मैं पढ़ूँ और तुम्हारे रुतबे के अनुसार ढलूँ। मैंने वह सब कुछ पा लिया, जिसके अभाव में तुमने मुझे ठुकरा दिया। मैंने एम० ए० कर लिया है, वह भी फर्स्ट क्लास। बिना कोई कालेज एटेंड किए, बिना किसी की सहायता से—स्वतंत्र रूप से। इसलिए कि तुम जान पाओ कि मैं भी ऊँची शिक्षा प्राप्त और प्रगतिशील हूँ। मुझमें भी कभी शिक्षा पाने की क्षमता थी। कोयले के खदान से निकला हीरा कुरूप और काला ही होता है। कोई उसके मूल्य को नजरअन्दाज़ कर उसे फेंक दे और नकली की ओर दौड़े, तो उसकी बुद्धि के दिवालिएपन पर तरस ही आ सकती है। खैर, मैं असली-नकली का अन्तर स्पष्ट करना नहीं चाहती और न मुझे हीरे के पारखी की खोज ही है।

तुम नहीं आते थे। कभी-कभार तुम्हारा पत्र आता था। व्यस्तता का रोना रहता था, समय की किल्लत का कोसना रहता था ! पत्र को ही मैं अपना भाग्य समझती थी और तुम्हारी आशा पर जीती थी। वर्ष पर वर्ष गुजरते गए। यहाँ तक कि मुन्नी पाँचवीं कक्षा में पहुँच गई। वह भी रोज

मुझसे लटक जाए और जिद्द ठान बैठे—"पापा को बुलाओ तभी खाऊंगी।" मैं क्या करती, लाचारी थी। कितने दिन ऐसे बीते कि वह रो-धोकर बिना खाए सो गई, फिर भी तुम्हारी उदासीनता का राज मुझ पर प्रकट नहीं हुआ था। कभी मेरे हृदय-क्षितिज पर तुम्हारे प्रति शंका के मेघ नहीं मंडराए। मैं अपने इष्ट के लिए निश्चिन्त थी, ध्रुव के समान निश्चल, हिमालय के समान दृढ़। मैं कहाँ जानती थी कि मेरे भाग्याकाश में धूमकेतु छा गया है, मेरा ही स्वत्व मुझे छल रहा है। अब जान पाई कि वह कभी मेरा था नहीं—अपना होने का एक छलावा भर था।

मैं उस दिन बहुत नाराज हुई। पिताजी के सामने मैं आज तक कभी उतनी उग्र और आक्रामक नहीं हुई थी। उन्होंने मुझे अपने माली के साथ तुम्हारे पास भेज दिया। मैं नहीं जानती थी कि उनका अनुभवी हृदय आने वाले अनिष्ट को भाँप चुका है। उनको इतना विगलित और टूटते हुए मैंने कभी नहीं देखा था। वे रोते-रोते बोले—'पुरुष स्वभाव से कठोर होता है बेटी। वे कुछ कड़ी बात भी बोलें, तो तुम बुरा नहीं मानना। पति-पत्नी का नाता टूटता है पगली? वे कामों से लदे हैं। बेटी! तुम्हारे जाने पर उन्हें खुशी होगी। पति के पास पत्नी कभी-भी जा सकती है। देशकाल का कोई विचार नहीं होता।' यह सब सुनकर मैं अवाक् रह गई। पिता जी के कथन पर मुझे विश्वास ही नहीं हुआ। लगा कि वे बेतुका प्रलाप कर रहे हैं। मैं उनके पाँवों पर झुकी, तो मुन्नी भी झुक गई। उन्होंने दोनों को एक साथ उठा लिया और गले लगा लिया। मैं नहीं जानती थी कि पिताजी से वह मेरा आखिरी मिलन था।

सियार और दुर्जन छिप कर वार करते हैं। तुम उन दोनों से भी बदतर हो गए—न वार, न लड़ाई। ऐसी साजिश कि आदमी को भागते राह नहीं मिले। छिः छिः। अपने को अमीर और बड़ा साहब दिखाने के लिए वहाँ पहुँचते ही मेरे कपड़े बदल दिए गए। कीमती कपड़े पहनाए गए। बलिदान के पहले बकरे की भी ऐसी ही आवभगत होती है। क्या नजारा था! अपने ही घर में मैं कैद थी और दूसरी तुम्हारी पर्यंकशायिनी

बनकर गुलछर्रे उड़ा रही थी। तुममें इतना साहस नहीं था कि एक बार औपचारिक रूप से भी मेरा हाल-समाचार पूछते। इतना भर कहने में भी तुम्हें कष्ट होता था—'अपर्णा, कुशल तो है ?' मुझे तुम्हारे सौभाग्य से ईर्ष्या क्यों होने लगी ? अपना-अपना भाग्य। मुझे जो मिला मैं उसे ही स्वत्व समझ कर संतुष्ट हूँ। तलाक के कागज पर मैंने चुपचाप हस्ताक्षर कर दिए थे।

मेरा भविष्य मेरे समक्ष आइने के समान स्पष्ट था। मैंने तुम्हारे कपड़े सहेज कर ज्यों के त्यों रख दिये और निकल गई अनंत यात्रा पर। तुम मुझे परवरिश के लिए रकम देना चाहते हो। इतनी कृपा की जरूरत नहीं है। मैंने उसी समय ठुकरा दिया था। किसी की कृपा पर मैं जीना नहीं चाहती। नारी पुरुष की बाँहों की वल्लरी हो सकती है, उसकी आश्रिता भी, पर उसके बिना भी वह मजे में जी सकती है। वह कुसुम सी कोमल हो सकती है, तो वज्र के समान कठोर भी। परिस्थिति से समझौता उसे खूब आता है।

तुम कभी स्वप्न में भी नहीं समझना कि तुमने मुझे तड़पा कर, मेरे सुखों की कब्र पर अपनी रंगभरी जिंदगी का महल बनाया है। उत्तरदायित्व के ज्ञान और अकस्मात् जीवन-परिवर्तन ने मुझमें जूझने की असीम शक्ति दी है। तुम्हारे यहाँ से लौटकर मैं एक दिन भी अपने घर नहीं गई। पिता ने सुना, तो सिर पीट लिया। हृदय के रोगी थे ही—एक ही दौरे में उनके स्नेह की छाया से भी वंचित हो गई। माँ थी नहीं, पिता ही माँ की वात्सल्यमयी मूर्त्ति थे। कभी मुझे माँ का अभाव नहीं खटकने दिया। हत्यारा, कातिल—जिसे आदमी से प्यार नहीं हुआ, फैशन, चाक्यचिक्य और शिक्षा से प्यार हुआ, उससे बढ़कर हृदयहीन व्यापारी भी कोई हो सकता है भला ?

मैं मजे में कालेज में पढ़ा कर समय काट लेती हूँ। मैं अपने झुलसे अतीत की ओर से मुख मोड़ना चाहती हूँ। केवल इतनी ही चिन्ता है कि तुम इसी प्रकार महत्वाकांक्षी रहे, तो सौत की भाग्यलिपि पर कालिख पुत

जायगी। नारी हृदय की पीड़ा जानती है। तुम पर क्या फर्क पड़ेगा—मैं अच्छी तरह जानती हूँ। जहाँ पहुँच गए हो—वहाँ भी स्थिर रह सको—इतना ही काफी है।

मुन्नी को तुमने कालिज में दाखिल करा दिया है। उसके पत्र से पता चला। तुम उसको ऊँची शिक्षा देते जाओ अन्यथा कहीं उसे भी मेरी परंपरा का शिकार नहीं बनना पड़े। उसे तुम्हारी सूरत से भी नफरत है। यह उम्र भी क्रांति, जोश की है। कहीं उसका सारा आक्रोश तुम पर ही नहीं बरस जाए। वह समाज के सामने चिल्ला-चिल्ला कर तुम्हारे काले कारनामे का इतिहास दुहराने लगे, तो क्या होगा? कहाँ जायगा—तुम्हारा पद, तुम्हारा रुतबा? अतएव, धैर्य से काम लो और कालेज की पढ़ाई समाप्त होते ही उसका विवाह करा दो। विवाह में अच्छी मोटी राशि मैं भेज दूँगी। भूल से भी उसे मेरे पास कभी नहीं भेजना। कहीं मेरी दुखती रगों को उसने सहलाया, उससे उठी टीस को महसूसा, तो प्रलय हो जायगा। सूर्य को बादल में कब तक छिपाया जाएगा? खून की पुकार कब तक अनसुनी की जाएगी? मैं जानती हैं कि नई माँ में उसके प्रति अपार घृणा का सागर लहराता है। तुम्हारी लाचारी के कारण वह चुप रह जाती है। मुन्नी को माँ का प्यार नहीं मिल पाया—कभी पिता से उपेक्षिता रही, कभी माँ से। अपनी माँ के दर्शन तुममें करने की उसकी कल्पना ही निराधार है। काश, तुम उसके दिल में झाँक सकते।

बस, इतनी सी भीख माँगती हूँ और तुम जान लो कि संतान के लिए माँ सब प्रकार की कुर्बानी कर सकती है। पिता भले ही नित नूतन नवेली की खोज में कठोर हो सकता है, पर माँ का दिल अगाध सागर होता है। तुम अपने व्यवहार से उसके नाजुक दिल को तोड़ने की कोशिश नहीं करना। तुम छुट्टियों में ही उससे मिलो, पर पिता की पूरी ईमानदारी और स्नेहमयता के साथ। उसे मुझे दी गई सजा और उपेक्षा का हकदार नहीं होना पड़े। इतना ध्यान तुम रख सको, तो बड़ा उपकार मानूँगी।

मनुष्य कितना ही कठोर हो, निर्दय हो, स्वार्थी हो, आखिर उसमें

दुर्बलताएँ रहती हैं। तुमने मुझे भले ही एकनिष्ठा से प्यार नहीं किया है, छलते रहे हो, पर मैंने पूरी ऐकांतिकता से तुम्हें चाहा है। संभव है कभी अनजाने में मेरी याद आ जाए, तो उसे झटके से दूर फेंक देना। उसकी मनहूस छाया न चेहरे पर आने देना और न आचरण में। कोई सौत नहीं चाहेगी कि उसका पति अपनी पहली पत्नी को याद करे। मुझे विश्वास है, तुम कब का मुझे विस्मृति की अंध गुफा में दफना कर निश्चिन्त हो गए होगे, पर अचेतन कभी-कभी चेतन पर इतना हावी हो जाता है कि उससे पिंड छूटना कठिन हो जाता है। मैं चाहूँगी कि तुम जहाँ हो, पूरी निष्ठा से वहाँ रहो। वहाँ मेरी याद भी कभी रेंग कर तुम लोगों के जीवन को विषाक्त नहीं बनाए।

दूध का जला मठ्ठा भी फूंक-फूंक कर पीता है। पुरुष जाति के प्रति मेरे मन में घृणा पल रही है। इसी कारण अब मेरे जीवनाकाश में किसी पुरुष नक्षत्र का उदय असंभव है। कर्ममयता मेरा जीवन है, मेरी जिंदगी काम करने की पर्याय बन गई है और मुझे कुछ नहीं चाहिए—तुमसे तो कुछ भी नहीं। तुम कब दे सके थे, जो आज दे सकोगे ! संतान का मोह उमड़ता है, तुम पिता हो, तो तुम्हें भी होता होगा—इसी नाते इतना लिख दिया। वक्त क्या किसी का इंतजार करता है ? वह अपनी रफ्तार में लीन है, तो मैं भी लीन हूँ। फिर सोच किसका, परेशानी क्यों ?

जिसे तुमने पत्नी बनाया था

अपर्णा

०
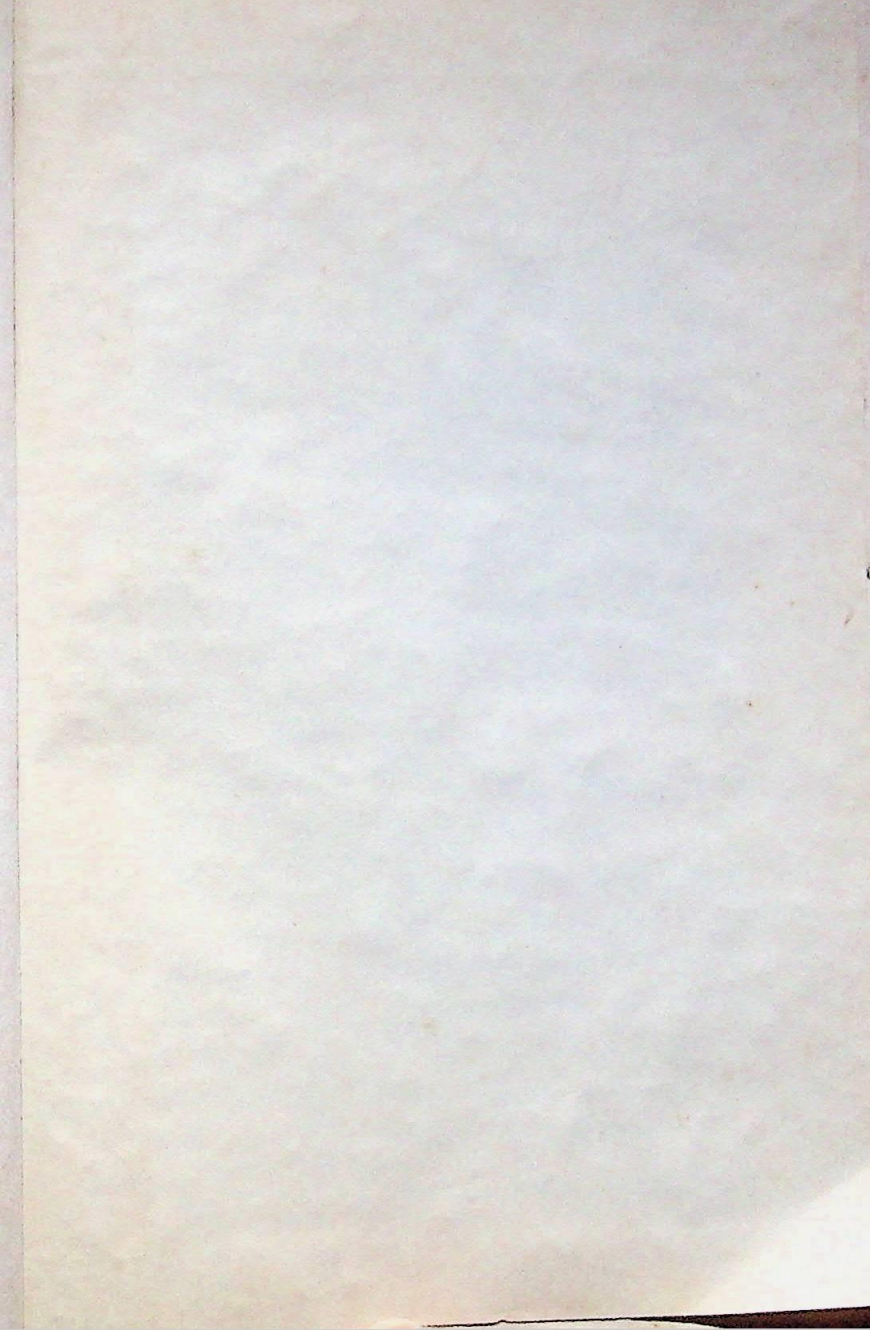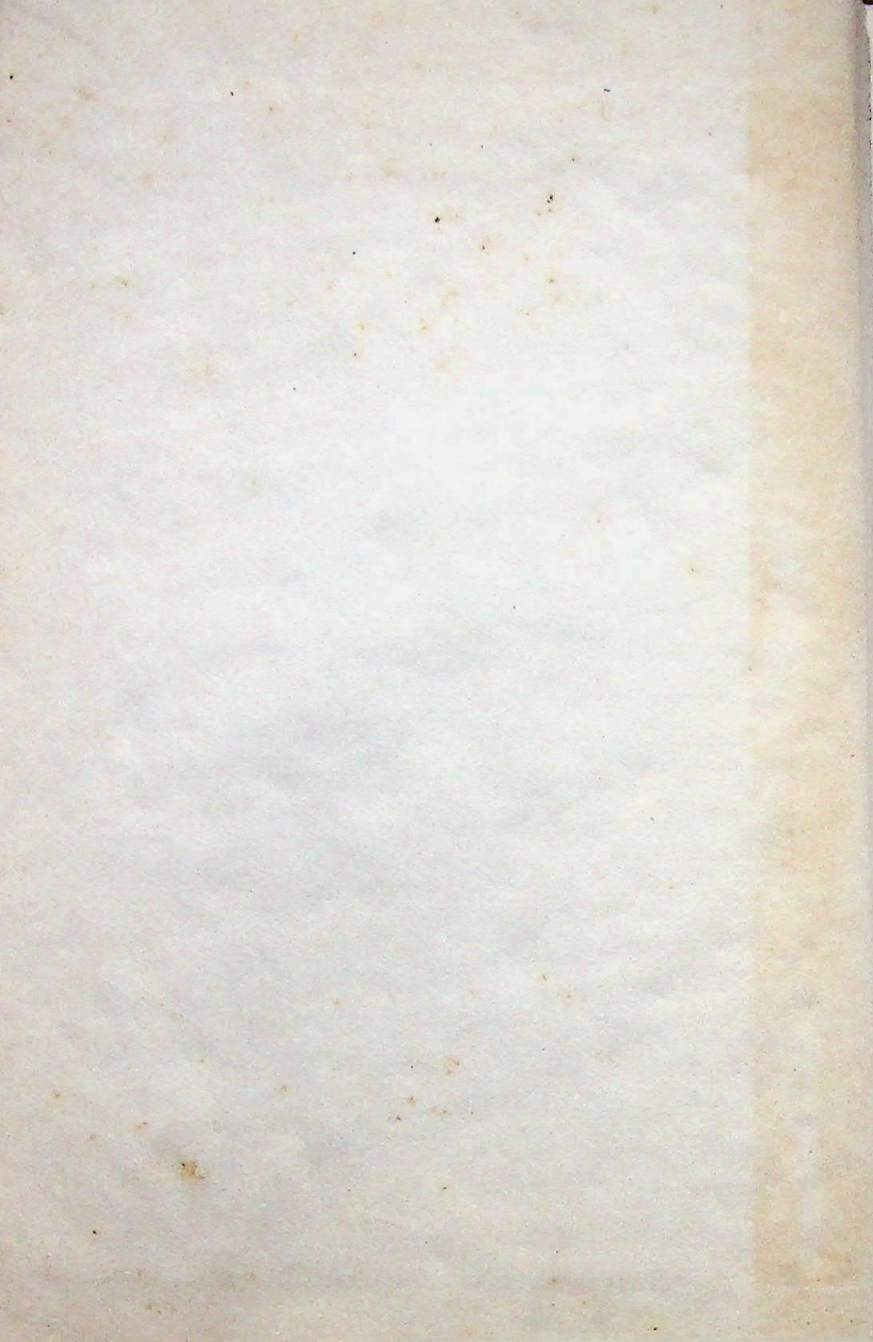
मृत्युंजय उपाध्याय

जन्म : १ जनवरी १९४०, कुमैठा (भागलपुर)

शिक्षा : एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशित रचनाएँ : शोध प्रबन्ध 'उपन्यास शिल्प और प्रताप नारायण श्रीवास्तव' प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सौ से अधिक कहानियाँ, लेख, कविताएँ प्रकाशित एवं आकाशवाणी से प्रसारित।

सम्प्रति : राजा शिवप्रसाद कालेज, झरिया के हिन्दी विभाग में रीडर एवं अध्यक्ष।

स्थाई पता : वृन्दावन, राजेन्द्र पथ, धनबाद (बिहार)